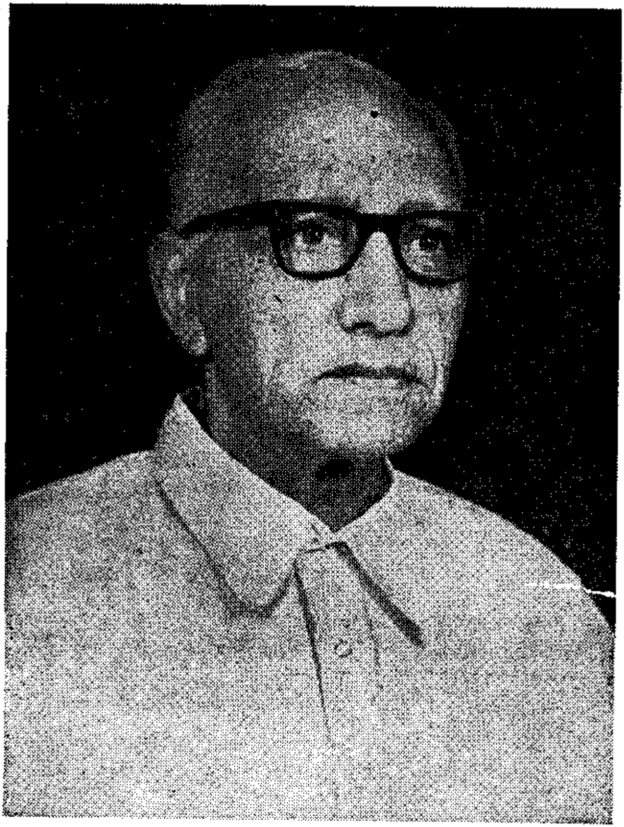

श्री डा० रामनाथ जी चोपड़ा

रिटायर्ड मेडीकल सुपरिन्टेन्डेन्ट एण्ड स्टाफ सर्जन,

आर० ५०४, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली-५

श्रीमती जमना तलवाड़ जी

धर्मपत्नी दीवान साहिब श्री गंगाबिशन जी तलवाड़

आर० ५००, न्यू राजेन्द्रनगर, नई दिल्ली-५

तीन अनादि सत्ताएँ

लेखक
डा० रामनाथ चोपड़ा
रिटायर्ड मेडीकल सुपरिन्टेन्डेण्ट एण्ड स्टाफ सर्जन,
आर० ५०४, न्यू राजेन्द्र नगर, न्यू दिल्ली–५

★

प्रकाशक
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन,
नई दिल्ली १

★

सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०७१
विक्रमी सम्वत् २०२७, सन् १९७०

इसे ध्यान पूर्वक पढ़ना और पढ़कर सत्य का
ग्रहण करना ही इसका मूल्य है।

प्रकाशक—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली-१

जिनके सात्विक दान से यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है।

श्रीमती जमना तलवाड़,

धर्म पत्नी, दीवान साहिब गङ्गाबिशन तलवाड़,

आर० ५००, न्यू राजेन्द्र नगर, न्यू दिल्ली—५

मुद्रक—

सार्वदेशिक प्रेस

दरियागंज, दिल्ली-६

शोधन

तीन अनादि सत्ताएं में निम्नलिखित अशुद्धियों को
शुद्ध करके पढ़ना चाहिये।

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	३	चना	रचना
१४	१	गरा	गुरा
२१	२५	अन्तःकरण एक	अन्तःकरण का एक
२८	२	अङ्कार	अहंकार
३८	२४	नैव च	चैव न
३९	२३	—	अथ० १०-८-१
४६	१५	तरफ	तरह
५४	४	अपने	आपने
६६	२३	करण	कारण
६७	१	सर्वात्मता	सर्वात्मक्ता
६७	२४	माना	मान
७२	१५	जलृया	जल्प्या
७२	२१	प्राणी	प्राणों
७३	१८	वाली सिद्ध	वाली सत्ताएं सिद्ध
७५	११	आवश्यता	आवश्यकता
८०	१४	प्रयोग तो	प्रयोग करेगा तो
८४	१२	झूठ	झूठे
८५	१९	ह	हुए
९१	२४	कर सकते	कर सकते हैं
९५	१९	व्यप्य	व्याप्य
१०३	१	अहैतवाद	अद्वैतवाद
१०५	४	और नाश के होने	शरीर के नाश होने
११३	६	सर्वज्ञता	सर्वज्ञ तो
११८	२	भिन्न	भिन्न-भिन्न
११८	२२	मनन	मनन तथा
११९	१५	स्वरूप	स्वरूप को
१२२	१८	Pare	Part

१२२	२६	Bejare	Be fore
१२३	१०	H+O	H_2+O
१२७	४	को	की
१३१	८	आलने	पा लेने
१३२	२५	मुमुक्ष	मुमुक्षु
१३४	५	ससारी	ससारी
१३४	१६	परत्मा	परमात्मा
१३७	२३	माक्ष	मोक्ष
१४४	१०	भौतिक	अभौतिक
१५५	१५	चतन्य	चैतन्य
१५८	२०	परम्परा	परमात्मा
१६०	२४	चतन्य	चैतन्य
१७४	१६	माक्ष	मोक्ष
१७४	१६	पुनरावत्तन	पुनरावर्त्तन
१८३	६	लिखे	लिये
१८३	२६	पड़ता	पड़ना
१८८	१	डाल	डालदें
२०६	२७	त्रिवस्थमस्ति	त्रिवस्थमस्ति ते
२१२	२५	कौन	को न
२२२	१८	मुमुक्ष	मुमुक्षु और मोक्ष
२२७	१४	अभिभाय	अभिप्राय
२४२	२१	के	के लिये
२५५	१६	तुम	तम
२७५	२१	जीव शरीर	जीव+शरीर
२७६	१६	उपा	उपादान
२८१	१	बटा	बना
२८१	७	कामये	यम कामये
२८१	११	क्रमानुसार	कर्मानुसार
२८३	२१	भूठ	भूठे
२८७	५	वे	मे
२७६	२५	क्या	किया

भूमिका

हमारे भारत देश में जहां बहुत से सम्प्रदाय हैं, उनमें से एक अद्वैतवाद-सम्प्रदाय भी है। उसका सिद्धांत है कि जगत् की रचना स्वप्नमात्र या मृगतृष्णा की तरह झूठी है, जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं, वे जीव और ब्रह्म का तादात्म्य मानते हैं और अपने आपको "अहम् ब्रह्मास्मि" ब्रह्म मानते हैं। वह ब्रह्म के अतिरिक्त किसी और चेतन या जड़ सत्ता को नहीं मानते। अद्वैतवाद के जन्मदाता स्वामी शंकराचार्य जी तथा उनके गुरु गौड़पादाचार्य थे। उनके सिद्धान्तों को शंकराचार्य के पश्चात् कई आचार्यों ने अस्वीकार कर दिया और घोर विरोध किया। उन विरोधियों में श्री रामानुजाचार्य, श्री माधवाचार्य तथा अन्य कई विद्वान् थे। स्वामी शंकराचार्य जी की विद्वत्ता के सामने तो सब सिर झुकाते थे क्योंकि उन जैसा विद्वान् तार्किक, दार्शनिक, प्रचारक मिलना बहुत कठिन था। परन्तु उनके अद्वैतवाद के सिद्धान्त चूंकि वेद शास्त्रों के अनुकूल और युक्तियुक्त नहीं थे इसलिये शंकर-सिद्धान्तों के स्वीकार करने में उन विद्वानों को आपत्ति हुई। मुझ जैसे कई आत्मा ऐसे हैं जिनकी अद्वैतवाद से संतुष्टि नहीं होती। अद्वैतवाद के मानने में अनेक ऐसी अड़चनें प्रतीत होती हैं, जिनका निपटारा होना असम्भव है। यदि अद्वैत शब्द के वास्तविक अर्थ 'अद्वितीय' समझे जायें तो अद्वैतवाद की सब उलझनें समाप्त हो जायें। अद्वितीय का अर्थ है ब्रह्म के समान या उससे बड़ी कोई और चैतन्य सत्ता नहीं। उससे भिन्न-भिन्न गुण, कर्म, स्वभाव वाली उससे छोटी सत्ताएं तो हो सकती हैं। इसके मानने में कोई आपत्ति नहीं। यही वेद शास्त्रों का सिद्धान्त है

कि ब्रह्म, अद्वितीय है, उससे बड़ा या उसके बराबर और कोई नहीं, पर उस से छोटी भिन्न-भिन्न गुण, कर्म, स्वभाव वाली दो और अनादि सत्ताएं हैं—एक सत्‌चित्, अल्पज्ञ, अल्प शक्ति वाला जीव और दूसरी सत्, जड़ और तीन गुण (सत्, रज, तम) वाली प्रकृति (माया-Matter)। यह तीनों सत्ताएं (ब्रह्म, जीव और माया) अनादि हैं। इन तीन अनादि सत्ताओं के सिद्धान्त को त्रैतवाद कहते हैं।

वैसे अद्वैतवादी भी ब्रह्म, जीव और माया को मानते तो हैं परन्तु इस ढंग से मानते हैं जिस से कई उलझनें खड़ी हो जाती हैं जिनका सुलझाना असम्भव है। वेद शास्त्रों के अनुसार यदि तीन अनादि सत्ताएं मान ली जायें तो सब अड़चनों का निपटारा हो जाता है।

तीन अनादि सत्ताओं के विना तो जगत् की रचना ही नहीं हो सकती। जब हम किसी भी बनी हुई वस्तु को देखते हैं:—

तो तीन प्रश्न होते हैं:—

(१) किसने बनाई है ? (२) किस से बनाई है? (३) किस के लिये बनाई है ?

जब हम घड़े को अथवा मिट्टी के अन्य बरतनों को देखते हैं तो मालूम होता है कि जरूर किसी कारीगर का हाथ मिट्टी पर लगा है जिसने यह घड़ा और बरतन बनाये हैं। कारीगरी ने कारीगर के होने को सिद्ध कर दिया है। इन बरतनों के बनाने वाले कारीगर को कुम्हार कहते हैं। हम उस कुम्हार को देखें या न देखें मगर उसके होने से इनकार नहीं कर सकते। कुम्हार को इन बरतनों का निमित्त कारण कहते हैं जो अपने ज्ञान और शक्ति से मिट्टी के बरतन बनाता है।

दूसरा प्रश्न है:—किस से बनाता है याने इनका उपादान कारण क्या है? जिससे यह बरतन बनाये गये हैं? उनका उपादान कारण तो बरतनों में प्रत्यक्ष नजर आ रहा है वह है मिट्टी।

तीसरा प्रश्न है:—कुम्हार ने किन के लिये यह बरतन बनाये हैं ? कुम्हार ने यह उन लोगों के लिये बनाये हैं जिनको इनकी आवश्यकता है।

इसी तरह जब हम संसार के पदार्थों को देखते हैं तो हम को सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी नाना प्रकार के वृक्ष और फल फूल, नाना प्रकार के मनुष्य और पशु-पक्षियों के शरीर और कई प्रकार के और पदार्थ विचित्र कारीगरी से बने हुए और नियमों में बन्धे हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जिनको देखकर मालूम होता है कि इन पर जरूर किसी पूर्ण कारीगर (कलाकार) के हाथ लगे हैं जिसने अपने पूर्ण ज्ञान और शक्ति से इन नाना प्रकार के अद्भुत पदार्थों की रचना की है। वह कारीगर हम को इन आंखों से नजर आये या न आये हम उसकी हस्ती (अस्तित्व) से इनकार नहीं कर सकते। कारीगरी को देखकर कोई मनुष्य भी कारीगर की हस्ती से इनकार नहीं कर सकता। इस जगत् का कारीगर भी कोई है। कोई उसको अल्ला कहते हैं, कोई गाड़ कहते हैं, कोई ब्रह्म कहते हैं और कोई नेचर कहते हैं। दार्शनिक उसको सृष्टि का निमित्त कारण बताते हैं।

अब दूसरा प्रश्न होता है:—कि वह कारीगर (ब्रह्म) इस संसार के तमाम पदार्थों की रचना किस उपादान कारण से करता है ? इन पदार्थों का उपादान कारण इन पदार्थों में ही प्रत्यक्ष नजर आ रहा है। वह है जड़ माया (प्रकृति=Matter)। इससे कोई इनकार नहीं कर

सकता। यह उपादान कारण (प्रकृति) सत् है और जड़ है, आनन्द, ज्ञान और गतिसे शून्य है। इस में तीन गुण हैं-तमोगुण रजोगुण और सतोगुण। सृष्टि बनने से पहले यह परमाणुओं का समूह होता है, जिन परमाणुओं को परमात्मा गति देकर मिलाता है और ब्रह्मांड के पदार्थों की रचना करता है। सृष्टि बनने से पहले यह प्रकृति सृष्टि के कारणरूप में होती है। उस समय यह अव्यक्त, अदृश्य, अप्रत्यक्ष होती है। जब सृष्टि बन जाती है तो यह सृष्टि के कार्यरूप में व्यक्त, दृश्य, प्रत्यक्ष हो जाती है।

अब तीसरा प्रश्न होता है:—कि यह जगत् ब्रह्म ने किस के लिये बनाया है? जब कोई बुद्धिमान् किसी चीज को बनाता है तो उसका एक प्रयोजन होता है—अपनी या किसी दूसरे की आवश्यकता को पूरा करना। परमात्मा जो सबसे बड़ा बुद्धिमान् है उसने भी यह जो दुनिया बनाई अवश्य किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही बनाई है। वह स्वयं तो सब प्रकार से पूर्ण है—उसका ज्ञान, बल और आनन्द स्वाभाविक और पूर्ण हैं। ऐसे पूर्ण ब्रह्म को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं हो सकती, तो फिर जरूर किसी और चेतन की आवश्यकता को पूरा करने के लिये बनाई है। इसलिये ब्रह्म के अतिरिक्त किसी और चेतन सत्ता को मानना पड़ेगा। वह ब्रह्म से भिन्न चेतन सत्ता वाले हैं जीवात्मा जिनको ज्ञान और आनन्द की आवश्यकता है। परमात्मा जो अनादि-काल से स्वभावत: दयालु और आनन्दस्वरूप है, वह अनादि काल से ही तमाम जीवों पर दया करता चला आ रहा है और अनन्तकाल तक करता चला जायेगा। जीवों पर दया करना उसका स्वभाव है। जीव सत् चित् हैं,और परमात्मा सत् चित् आनन्द है। परमात्मा की स्वाभाविक इच्छा है कि उसके अमृत पुत्र जीव

भी उसके आनन्दको प्राप्त करके सत्‌चित् से सत्‌चित् आनन्द हो जायें और मेरे आनन्द से आनन्दित हो जायें। परमात्मा चूंकि स्वभावतः पुरुषार्थी है और अनादि काल से पुरुषार्थ (सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और जीवों को न्यायपूर्वक उनके कर्मों का फल देने का कार्य) करता चला आ रहा है और अनन्त काल तक करता चला जायेगा, इसलिये उसकी स्वाभाविक इच्छा है कि जीव भी पुरुषार्थ करके ही उसके आनन्द को प्राप्त करें। अपनी दया से जीवों को तमाम साधनों (शरीर ज्ञान और कर्म इन्द्रियां, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार आदि और शरीर की रक्षा के लिये सब प्रकार के खाद्य और अन्य आवश्यक पदार्थ) से सम्पन्न कर देता है (आनन्द की प्राप्ति के लिये) और साथ ही आवश्यक ज्ञान भी उनकी पथप्रदर्शकता के लिये उनको दे देता है। अब जीवों का काम है पुरुषार्थ करना। जो जीव अपने पुरुषार्थ से परमात्मा के दिये हुए साधनों से उस के ज्ञान की रोशनी में चलकर, योगाभ्यास से योग की आठ सीढ़ियों पर चढ़ कर उसके चरणों में पहुंच जाते हैं वह आनन्द के पात्र (अधिकारी) हो जाते हैं। ऐसे जीवों को परमात्मा अपने आनन्द का पात्र समझ कर उनको शरीरों के बन्धन से मुक्त कर देता है और उनके जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ के फल में उनको एक बहुत दीर्घकाल के लिये अपना आनन्द प्रदान करके आनन्दित कर देता है। आनन्द भोगने का मोक्षकाल होता है ३१ नील, १० खर्ब और ४० अरब वर्षों का। जो जीव परमात्मा से मुख मोड़कर प्रकृति के चमकीले पदार्थों से ममता जोड़कर उन में लिप्त हो जाते हैं और पाप कर्म करते हैं वह जन्म-मरण के बन्धन में बन्धे रहते हैं और नाना प्रकार की योनियों में भटक कर दुःख उठाते रहते हैं।

यह मैंने शास्त्रों के त्रैतवाद का संक्षेप में वर्णन किया है।

त्रैतवाद तो प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध है। परन्तु प्रचलित अद्वैतवाद ब्रह्म के अतिरिक्त किसी और चेतन या जड़ सत्ता को नहीं मानता। जब इस अद्वैत मत के मानने वालों से प्रश्न होता है कि जब ब्रह्म के अतिरिक्त कोई और चेतन है ही नहीं तो फिर पाप कर्म कौन करता है और फलस्वरूप जन्म-मरण के बन्धन में बन्धा हुआ नाना प्रकार की योनियों में भटकता हुआ दुःख कौन भोगता है? इसका इनके पास कोई उत्तर नहीं है। जब ब्रह्म के सिवा और कोई है ही नहीं तो पाप कर्मों का कर्ता ब्रह्म के सिवा और कोई हो ही नहीं सकता। यह अद्वैतवादियों को मानना ही पड़ता है। इसीलिये स्वर्गीय स्वामी शिवानन्दजी ऋषिकेश वालों को अपनी पुस्तक ESSENCE of Vedanta(पृष्ठ ३०)पर लिखना पड़ा कि,"God is the Essence of even the Shaitan. He is the source of even the worst evil." "परमात्मा शैतान की भी जड़ है। और बड़े से बड़े पाप का भी स्रोत है।"

यदि वह जीव को ब्रह्म से भिन्न पाप कर्मों का कर्ता मान लेते तो उनको ब्रह्म को तमाम पापों का खजाना (भण्डार) न कहना पड़ता। इस प्रश्न से बचने के लिये बहुत से अद्वैतवादी उपदेशक यह प्रयत्न करते हैं कि किसी तरह यह सिद्ध हो जाये कि ब्रह्म पाप कर्मों का कर्ता नहीं। इसके लिये कई (theories) सिद्धान्त पेश करते हैं तो भी इन से उनका मन्तव्य सिद्ध नहीं हो सकता। स्वामी मनोहर दास जी ने भी एक विचित्र (theory) विचार इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक "सरल वेदान्त" में लिखा है। वह जीवके दो स्वरूप मानते हैं एक वाच्य-स्वरूप दूसरा लक्ष्य स्वरूप। वाच्य स्वरूप पाप,पुण्य करता है, और दुःख सुख भोगता है। जब विदेह मोक्ष को प्राप्त करता है तो अन्तःकरण के नाश होने के साथ इसके वाच्य स्वरूप का

भी नाश हो जाता है और इसका लक्ष्य स्वरूप साक्षी चेतन बाकी रह जाता है। कर्त्ता भोक्ता जीव का वाच्य स्वरूप है, इस को वेदान्त ब्रह्म नहीं कहता। वेदान्त ब्रह्म कहता है जीव के लक्ष्य रूप साक्षी चेतन को। जीव के वाच्य-स्वरूप (चिदाभास) और लक्ष्य-स्वरूप (साक्षी चेतन) को समझाने के लिये स्वामी जी एक दृष्टान्त लिखते हैं:—

"एक लड़के ने जब दर्पण को धूप में हिलाया तो सूर्य के प्रतिबिंब (अक्स) के पड़ने से वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी भाग गये। पक्षियों ने सोचा कि "हमको किसने भगाया है!" एक पक्षी ने कहा दर्पण ने "हमको भगाया है।" दूसरे ने कहा "दर्पण तो जड़ है, हमको प्रकाश ने भगाया है।" तीसरे ने कहा कि "सामान्य प्रकाश तो हम पर हमेशा पड़ता है इसका किसी से राग है न द्वेष। इस प्रकाश में तो हम घूमते-फिरते हैं।" आखिर एक वृद्ध पक्षी ने कहा कि "वास्तव में न अकेले दर्पण ने भगाया है, न प्रकाश ने, परन्तु दर्पण में आये हुए सूर्य के सामान्य प्रकाश के प्रतिबिंब (Reflection) विशेष प्रकाश ने भगाया है।" भगाने वाले तीन पदार्थ हैं। एक दर्पण, दूसरा दर्पण उपहित सामान्य प्रकाश [जो प्रकाश सर्वत्र व्यापक है वह दर्पण में भी है। उस दर्पण की हद में (उपाधि में) आए सामान्य प्रकाश को कहते हैं दर्पण-उपहित सामान्य प्रकाश] तीसरा दर्पण में आया हुआ उस सामान्य प्रकाश का प्रतिबिम्ब अर्थात् विशेष प्रकाश।

जैसे यह तीन पदार्थ हैं वैसे ही जीव के वाच्य स्वरूप के तीन पदार्थ हैं एक तो अन्तःकरण (मन बुद्धि) रूपी दर्पण, दूसरा अन्तःकरण उपहित सामान्य चेतन (ब्रह्म) [जो सामान्य चेतन सर्वत्र व्यापक है वह अन्तःकरण में भी है, उस अन्तःकरण की उपाधि में आए हुए सामान्य चेतन को कहते हैं अन्तःकरण-

उपहित सामान्य चेतन।] तीसरा अन्तःकरण में आया हुआ सामान्य चेतन (ब्रह्म) का प्रतिबिंब (विशेष चेतन) इन तीनों को मिलाकर जीव का वाच्य स्वरूप कहते हैं।"

सामान्य प्रकाश को स्वामी जी सत्य कहते हैं और विशेष प्रकाश को कल्पित। पक्षियों को भगाना कल्पित (आभासरूप) विशेष प्रकाश का कार्य है, सामान्य प्रकाश का नहीं। उसी प्रकार वह साक्षी स्वरूप सामान्य चेतन (ब्रह्म) को सत्य चेतन और सामान्य साक्षी चेतन (ब्रह्म) के प्रतिबिंब विशेष चेतन (चिदाभास) को कल्पित विशेष चेतन कहते हैं वही कर्त्ता, भोक्ता, सुखी दुःखी, अल्पज्ञ व राग द्वेष आदि धर्मों वाला है। वह कहते हैं वास्तव में यह धर्म अन्तःकरण (मन बुद्धि) के हैं जो साक्षी चेतन ब्रह्म के प्रतिबिंब (चिदाभास) में आते हैं। इन्हीं के कारण चेतन विशेष (चिदाभास) जो जीव का वाच्य स्वरूप है कर्त्ता भोक्ता, सुखी दुःखी होता है। साक्षी शुद्ध चेतन ब्रह्म (सामान्य चेतन) अन्तः करण (मन बुद्धि) के इन धर्मों से रहित है, इसलिये वह निर्विकार निष्क्रिय है।".

आगे चलकर स्वामीजी लिखते हैं "जब वेद शास्त्र व सन्तों की वाणियां, जीव को ब्रह्म कहती हैं तब जीव के तीनों हिस्सों को अर्थात् अन्तःकरण, चिदाभास और साक्षी सामान्य चेतन को मिलाकर ब्रह्म नहीं कहती, परन्तु केवल साक्षी शुद्ध चेतन को लक्ष्य करके ही कहती है।"

यह लिखकर स्वामी जी ने स्वयं ही निर्णय दे दिया है कि वेद शास्त्र और संत जीव को कभी ब्रह्म कहते ही नहीं क्योंकि जीव बनता है तीन पदार्थों से और स्वामी जी के कथनानुसार वह तीन हिस्सों वाले जीव को ब्रह्म नहीं कहते क्योंकि जीव तो होता ही है तीन हिस्सों वाला (स्वामी जी के कथनानुसार) वह तो एक रस अवयव रहित निर्विकार, साक्षी शुद्ध चेतन,

सर्वज्ञ,आनन्द स्वरूप ब्रह्म को ही ब्रह्म कहते हैं। इसलिये जीव न कभी ब्रह्म था, न है और न होगा। क्योंकि तीन हिस्सों वाले जीव की संज्ञा कभी ब्रह्म हो ही नहीं सकती। जीव तीन हिस्सों वाला है स्वामी जी के कथनानुसार। ब्रह्म तीन हिस्सों वाला नहीं इसलिये जीव और ब्रह्म कभी एक नहीं हो सकते। यह वेद शास्त्रों संतों और स्वामी जी का निर्णय है। इसलिये जीव को ब्रह्म से भिन्न चेतन सत्ता वाला मान लेना चाहिये। इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसके मानने का एक बड़ा लाभ अद्वैतवादियों को यह होगा कि उनकी यह उलझन कि "पाप कौन करता है" फौरन सुलझ जायेगी क्योंकि पाप कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता जीव हो जायेगा और ब्रह्म कर्माध्यक्ष और कर्मों का फल-दाता होगा।

प्रकृति के सम्बंध में एक बात विचारणीय है, वह यह कि अद्वैतवादी ब्रह्म जिज्ञासु इस बात को मानता है कि ब्रह्म की खोज को आरम्भ करने से पूर्व चार वस्तुओं का होना आवश्यक है। उनमें से पहली यह कि जो व्यक्ति खोज करना चाहता है उसे आत्मा और अनात्मा का पता हो। यह पता लगता है विवेक (यथार्थ ज्ञान) से। विवेकी को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि शरीर जड़ (अनात्मा) है और शरीर के अन्दर, शरीर से भिन्न चेतन तत्व आत्मा है। जब विवेकी अद्वैतवादी को दो तत्व जड़ और चेतन स्पष्टतया मालूम हो जाते हैं तो फिर अद्वैतवाद कहां रहा! जड़ प्रकृति को चेतन आत्मा (ब्रह्म) से भिन्न मानना ही पड़ेगा। आत्म तत्व हैं परमात्मा और जीवात्मा और जड़ तत्व है प्रकृति। यह तीनों ही अनादि सत्ताएं हैं।

अद्वैतवादी यह भी कहते हैं कि व्यवहार में हम जीव और ब्रह्म को भिन्न-भिन्न मानते हैं परमार्थ में तो वह एक ही है।

जब यथार्थ में वह एक हैं तो व्यवहार में उनको दो मानना सत्य का व्यवहार न होगा, झूठ का व्यवहार होगा और उनकी व्यावहारिक उपासना भी झूठी होगी, झूठी उपासना का फल भी झूठा होगा। उपासना तो हो ही तब सकती है जब उपास्य-देव ब्रह्म से उपासक जीव को भिन्न सत्ता वाला माना जाये। यदि यथार्थ में जीव और ब्रह्म की एक ही सत्ता है तो उपासना हो ही नहीं सकती।

यह पुस्तक स्वामी मनोहरदासजी को मुखातिब(सम्बोधित) करके लिखी गई है। यदि उनकी पुस्तक "सरल वेदान्त" को पहले पढ़ लें तो अच्छा होगा, यदि न भी पढ़ें तो कोई खास आवश्यकता नहीं।

आशा है इस मेरी पुस्तक के पढ़ने से इस भ्रम का निवारण हो जायेगा कि विदेह मोक्ष को प्राप्त कर लेने पर शरीर (अन्तःकरण) के नाश हो जाने के साथ जीव का भी नाश हो जाता है और जिस ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने में वह जन्म-जन्मान्तर पुरुषार्थ करता रहा जब उसको भोगने का समय आया तो उसका नाश हो गया। ऐसे उपासकों की निराशा दूर हो जायेगी और पढ़कर प्रसन्नता होगी कि जीव नित्य शाश्वत है इसका नाश कभी नहीं होता, मोक्ष काल में भी इसका अस्तित्व बना रहता है और आनन्द को भोगकर आनन्दित होता रहता है।

सत्य-ज्ञान प्रिय ईश्वर-उपासकों से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि वह निष्पक्ष बुद्धि से इस पुस्तक को पढ़ें और जो सत्य मालूम हो उसको अवश्य ग्रहण करें।

अन्त में मेरी परमात्मा से प्रार्थना है कि वह सत्य ज्ञान को समझने में हमारा सहायक हो।

निवेदक

डा० रामनाथ चोपड़ा

नोट

मैंने इस पुस्तक में एक-एक बात को भिन्न-भिन्न सरल शब्दों में कई बार दोहराया है केवल इसलिये कि अपने विचारों को भली प्रकार स्पष्ट कर सकूं और जन साधारण भी अच्छी तरह समझ सकें।

—डा० रामनाथ चोपड़ा

श्रीमदित्यादि गुण गण विभूषित परम आदरणीय पूज्य स्वामी मनोहर दास जी महाराज ! पादाभिवन्दन।

स्वामी रामतीर्थ मिशन दिल्ली के वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर आपके जो उच्च कोटि के व्याख्यान वेदान्त विषय पर हुए मैं उनको बड़ी श्रद्धा से सुनता रहा और आपकी पुस्तक "सरल वेदान्त" को भी बड़े ध्यान से पढ़ा।

मैं एक आध्यात्मिक विद्यार्थी हूँ और आज तक मैंने जो कुछ पढ़कर समझा है उससे तो परमात्मा जीवात्मा,और प्रकृति तीन अनादि सत्ताएं मालूम होती हैं। यही उपनिषदों, वेदों, गीता और ब्रह्म सूत्र की भी शिक्षा है। परन्तु आपने अपने व्याख्यानों में जो कुछ कहा है और अपनी पुस्तक में जो कुछ लिखा है उससे मालूम होता है कि आप भी नवीन वेदान्तियों की तरह ब्रह्म के अतिरिक्त किसी और अनादि सत्ता को नहीं मानते। आपके इस अद्वैतवाद पर कुछ शंकायें हैं जो कि मैंने कई अद्वैतवादियों के आगे रखीं परन्तु किसी ने भी सन्तोष--जनक समाधान न किया। हर एक ने अपनी-अपनी Theory सिद्धांत (मन्तव्य) से समाधान करने का यत्न किया (वेदान्त के मानने वालों के भी कई मत हैं और उनके मन्तव्य भी भिन्न-भिन्न हैं) परन्तु कोई सन्तोषकारक उत्तार न मिला।

आप बड़े उच्च कोटि के विद्वान् हैं। मुझे आशा है कि आप मेरी शंकाओं पर अपने विशाल हृदय से अच्छी तरह विचार करके उत्तार देने का कष्ट करेंगे ताकि शंकाओं का समाधान हो।

आपकी पुस्तक **"सरल वेदान्त"** में **"आत्म-दर्शन"** के विषय में जो वार्तालाप एक जिज्ञासु और महात्मा में हुआ, वह इस प्रकार है। जिज्ञासु ने कहीं सत्संग में सुना कि **"तरति शोकमात्मवित्"** अर्थात् आत्मज्ञानी शोक के पार

हो जाता है। यह सुनकर उसके हृदय में आत्मा के दर्शन की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जिज्ञासु ने महात्मा से कहा—

जिज्ञासुः—"भगवन्, ऐसी कृपा कीजिए कि मुझे आत्मा के दर्शन हो जावें।"

महात्माः—"वत्स ! तुम आत्मा के दर्शन किस प्रकार करना चाहते हो ?

जिज्ञासुः—"भगवन् ! मुझे जैसे आपके दर्शन हो रहे हैं, वैसे ही आत्मा के दर्शन कराइये।"

महात्माः—"आत्मा का दर्शन आंखों से नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा का रूप नहीं और न ही किसी और इन्द्रियसे देखा जा सकता है क्योंकि वह किसी इन्द्रिय का भी विषय नहीं। इसलिये कानों से वह सुनाई नहीं देता क्योंकि वह शब्द नहीं, जिह्वा से चखा नहीं जाता क्योंकि वह रस नहीं, त्वचा से स्पृष्ट नहीं होता क्योंकि वह स्पर्श नहीं, नाक से सूंघा नहीं जाता क्योंकि वह गन्ध नहीं।"

जिज्ञासुः—"जब पांचों ज्ञानेन्द्रियों से उसका ज्ञान नहीं होता तो फिर मैं कैसे मानूं कि आत्मा है ?"

तब महात्मा ने जिज्ञासु की पीठ पर जोर से एक मुक्का मारा। मुक्का लगते ही वह चिल्ला उठा।

महात्माः—"क्या हो गया ? क्या हो गया ?"

जिज्ञासुः—"मेरी पीठ में दर्द हो गया है।"

महात्माः—"कहां है दर्द, मुझे दिखलाओ।"

जिज्ञासुः—"यहां पीठ में दर्द हो रहा है।"

महात्माः—"मुझे तो यह दर्द न आंखों से दिखलाई देता देता है, न कानों से सुनाई देता है, न नाक से सुंघाई देता है,

न जबान से चखाई देता है, न त्वचा से छुआई देता है जब पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आपके दर्द का ज्ञान नहीं हो सकता तो इसमें क्या प्रमाण है कि तुम्हारे पीठ में दर्द है ?"

जिज्ञासुः—"भगवन् ! दर्द का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं होता परन्तु जिसे चोट लगी है, उसे अनुभव होता है।"

महात्माः—"बस इसी प्रकार आत्मा का भी इन्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु जो लगन से साधनों द्वारा खोजता है उसे अनुभव होता है।"

जिज्ञासुः—"भगवन् ! कृपा करके मुझको आत्मा का अनुभव कराइये। विना अनुभव मैं कैसे मान लूं कि आत्मा है।"

महात्माः—"बेटा ! जब किसी से मिलना होता है तो पहले परिचय-पत्र (Visiting card) दिया जाता है। इसलिये पहले तुम अपना परिचय दो कि तुम कौन हो ? और क्यों आत्मा से मिलना चाहते हो ? तो फिर मैं तुम्हें आत्मा सें मिला दूंगा।"

जिज्ञासुः—"मेरा नाम उदयसिंह है और मैं सर्व दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिये आत्मा का दर्शन करना चाहता हूँ।

महात्माः—"भाई ! उदयसिंह नाम तो इस स्थूल शरीर का है यह स्थूल शरीर तुम्हारा मकान है, रहने का स्थान है। तू तो मकान नहीं। तू तो मकान में रहने वाला है। मैंने पूछा है तू कौन है और तुम मुझे परिचय दे रहे हो अपने शरीर का। यह उदयसिंह नाम तो तुम्हारे शरीर का है, तुम कौन हो जो इसमें रह रहे हो ? जैसे किसी से पूछा कि तुम कौन हो ? उसने कहा "मैं चोपड़ा-निवास हूँ"। अरे चोपड़ा निवास तो भवन का नाम है, तुम तो चोपड़ा हो जो इसमें रहते हो। सो तुम कौन हो ?

ध्यान दो, एक नियम है कि जिस पर 'मेरे' शब्द का टीका लग जाय, उस पर "मैं" शब्द का तिलक लगाना उचित नहीं। जैसे मेरा मकान, तो मैं मकान नहीं कहा जाता, मेरा कुर्ता की जगह मैं कुर्ता हूं नहीं कहा जाता, इसी प्रकार मेरा शरीर की जगह मैं शरीर हूं नहीं कहा जाता। तू शरीर से भिन्न है। माल से मालिक अलग होता है, शरीर तेरा माल है और तू इससे अलग इसका मालिक है, सो अब बता तू कौन है ?

एक और नियम भी समझ लो कि जिसको देखा जाता है उसको दृश्य कहते हैं और देखने वाले को द्रष्टा कहते हैं। यह शरीर तेरा दृश्य है और तू इसका द्रष्टा है इसलिये तू शरीर से भिन्न है (द्रष्टा दृश्य से भिन्न होता है)। इसी तरह जिसको जाना जाता है उसे ज्ञेय कहते हैं और जानने वाले को कहते हैं ज्ञाता। इस शरीर को तुम जान रहे हो इसलिये यह शरीर हुआ ज्ञेय और तू है इसका ज्ञाता। अतः तू इस से भिन्न है (ज्ञाता ज्ञेय से भिन्न होता है)। उदयसिंह नाम है तुम्हारे दृश्य या ज्ञेय शरीर का और तू इसका द्रष्टा या ज्ञाता इससे भिन्न है। सो अब बता तू कौन है ?

जिज्ञासुः—"भगवन् ! आज तक तो मैं अपने आपको उदयसिंह ही समझता रहा। मुझे तो समझ नहीं आता कि मैं कौन हूं।"

महात्माः—"जब तुम खुद को ही नहीं जानते तो परमात्मा को कैसे पहिचानोगे ? विचार करो। आंख खोल कर देखो तो दीख जायगा, जहां अहंभाव मरा वहां आत्म दीदार हुआ। एक शायर कहते हैं:—

"खोलकर आंख जरा देख तो ले ऐ ग़ाफिल।
तेरी ही हस्ती हिजाबे * रूखे पुरनूर न हो ॥

---

* हिजाब=परदा

अतः आंख खोलने से अर्थात् विचार करने से रास्ता निकल आयेगा। आत्मदर्शन हो जायेगा। जरा और विचार करो।"

जिज्ञासुः—"भगवन् ! अब आपकी दया से यह तो समझ में आ गया है कि मैं एक स्थूल शरीर, रक्त, हाड़, मांस का थैला नहीं हूँ। यह तो अन्न से बना है और अन्त में अन्न में अर्थात् मिट्टी में मिल जायेगा। और जब मैं यह स्थूल शरीर नहीं हूँ तो इसके धर्म भी मुझमें नहीं हैं। इसीलिये न मैं मोटा हूँ, न पतला हूँ, न गोरा हूं, न काला हूं, न ठिगना हूं, न स्त्री हूं, न पुरुष हूं, न मनुष्य हूं, न पशु हूँ। न ब्राह्मण हूं, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य, न शूद्र हूँ। परन्तु इन सब से न्यारा मैं कौन हूं यह समझ में नहीं आ रहा है।

हां, मुझे एक लक्षण अपने स्वरूप का सूझ रहा है। वह यह है कि जो आपको और इन संसारी रूप रंगों को देख रहा है वह "मैं" हूं।

महात्माः—"यह देखना धर्म तो आँख का है इसलिये "मैं" देखने वाला नहीं। "मैं" आंख नहीं क्योंकि आंख के न रहने पर भी तुम रहते हो। इसलिये तुम आंख से भिन्न हो। तुम कहते हो "मेरी" आंख। अतः आंख मेरी हो सकती है परन्तु मैं आंख नहीं। आंख ज्ञेय है और तू ज्ञाता है इसलिये तू आंख से भिन्न है। सो तू कौन है ?"

समीक्षाः--महात्मा ने अपने उत्तर में जिज्ञासु को जो यह कहा है कि "देखना धर्म आंख का है" यह कहना उनका ठीक नहीं क्योंकि आंख तो जड़ है, देखने वाला आंख से भिन्न "मैं" ही हो सकता है।

जिज्ञासुः—"भगवन् ! अब मैं क्या कहूँ कि मैं कौन हूं ?

इस नियम से तो "मैं" न आंख हूं, न कान, न नाक, न रसना और न त्वचा हूं क्योंकि इन सब पर "मेरे" शब्द का तिलक लगता है और यह सब ज्ञेय हैं और "मैं" ज्ञाता हूँ । इसलिये "मैं" इन पांचों इन्द्रियों से न्यारा हूं।

अतः "मैं" न देखता हूं, न सूंघता हूं, न चखता हूं, न सुनता हूं और न छूता हूँ, परन्तु इन सब छूना आदि कर्मों को और पांचों ज्ञान इन्द्रियों को जानने वाला इन सबसे न्यारा हूँ। इस प्रकार पांच कर्मेन्द्रियां (हाथ, पांव, नाक, मल-मूत्र आदि त्यागने वाली इन्द्रियां) भी मेरी हैं, और मैं इनका ज्ञाता हूं इसलिये "मैं" इन से न्यारा हूँ। परन्तु इन सबसे न्यारा "मैं" कौन हूं यह मैं नहीं जानता।"

समीक्षा:—महात्मा का यह कहना तो ठीक है कि "मैं" ज्ञान और कर्मेन्द्रियों से न्यारा है, परन्तु देखना, सुनना आदि और बोलना, चलना, मल-मूत्र, त्याग करना आदि यह कर्म यह इन्द्रियां स्वयं नहीं कर सकतीं क्योंकि यह जड़ (ज्ञान और गति शून्य) है, "मैं" ही इनके द्वारा सब काम करता है।

महात्मा:—"सोचो, थोड़ा और सोचो, समझ में आ जायगा।"

जिज्ञासु:—"भगवन्! यह जो प्राण चल रहे हैं यह तो मैं नहीं हूं?"

महात्मा:—"नहीं बेटा! यह प्राण भी तेरे हैं क्योंकि तुम कहते हो "मेरे" प्राण चल रहे हैं। जिस पर "मेरे" का टीका लग गया उस पर "मैं" का टीका कैसे लगेगा? तू प्राणों का ज्ञाता भी है। इस लिये तू, प्राण नहीं इन से भिन्न है। सो तू कौन है?"

जिज्ञासु:—"भगवन्! जो "मैं" बहुत दुःखी हो जाता हूँ

और, शान्ति के लिये तड़फता हूं सो "मैं" हूं।"

महात्मा:—"नहीं प्रिय! यह भी कहना तुम्हारा ठीक नहीं क्योंकि दुःखी सुखी होना धर्म मन का है। मन ही अशांत है और मन ही शान्ति को प्राप्त करने की इच्छा करता है। तू कहता है कि मेरा मन दुःखी है। इस पर जब "मेरे" का तिलक लग गया तो यह मन "मैं" नहीं हो सकता। तू मन का ज्ञाता भी है इस लिये भी "मैं" मन नहीं हो सकता। इससे भिन्न है सो तू कौन है ?"

समीक्षा:—महात्मा का यह भी कहना ठीक नहीं कि दुःख सुख मन अनुभव करता है और मन ही अशान्त है और मन ही शान्ति प्राप्त करने की इच्छा करता है क्योंकि वह जड़ है। यह ज्ञाता "मैं" ही मन द्वारा दुःख-सुख अनुभव करता है और अशान्त होता है। और यह ही शान्ति की इच्छा करता है। यह तो ठीक है कि "मैं" इस मन से न्यारा है।

जिज्ञासु:—"भगवन्! फिर यह "मैं" क्या है मेरी समझ में नहीं आता। कभी मैं भगवान् का भजन करता हूँ। शायद भजन करने वाला "मैं" हूं।

महात्मा:—"गलत, क्योंकि भगवान् का भजन करना धर्म मन का है। इसलिये भजन करने वाला तेरा मन है"मैं" नहीं। और जब तू कहता है "मेरा" मन भजन में नहीं लगता तो "मेरे" का तिलक लग जाता है और तू मन का ज्ञाता भी है। इस लिये "मैं" मन से न्यारा है। जो तू मन से न्यारा है तो तू कौन है?"

समीक्षा:—महात्माका यह कहना भी ठीक नहीं कि भजन करना धर्म मन का है क्योंकि मन तो जड़ है। भजन करने वाला तो ज्ञाता "मैं" ही हो सकता है जो मन से भिन्न है।

जिज्ञासुः—"भगवन्! जो मैं आपकी बातें समझ रहा हूँ, सो "मैं" हूँ।"

महात्मा :—"नहीं बेटा! यह समझना अथवा न समझना धर्म बुद्धि का है, तुम्हारा नहीं। बुद्धि तुम्हारी है तुम बुद्धि नहीं। "मैं" बुद्धि से भिन्न है सो तू कौन है?"

समीक्षाः—महात्मा की यह बात तो ठीक है कि "मैं" बुद्धि से भिन्न है। पर समझना धर्म बुद्धि का नहीं, क्योंकि बुद्धि जड़ है। यह तो ज्ञाता "मैं" ही बुद्धि द्वारा समझता है।

जिज्ञासुः—"मैं सदा अपने को औरों से बड़ा देखना चाहता हूँ क्योंकि "मैं" बड़ा अहंकारी हूं, और यह जो बड़ेपन की भावना है (अहंकार) वह सदा ही रहता है। अतः "मैं" समझता हूँ कि यह अहंकार ही "मैं" हूं।"

महात्माः—"नहीं बेटा! यह अहंकार तुम्हारा नकली स्वरूप है। वास्तव में मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार यह चारों अन्तःकरण के भिन्न २ रूप हैं। जब अन्तःकरण "मैं" की शक्ल धारण करता है तब अहंकार कहलाता है। तो यह अहंकार भी अन्तःकरण का एक रूप है। तू इस अहंकार को भी जानता है। इसीलिये तो साधक कभी २ कहता है कि महाराज! मेरा अहंकार बहुत बढ़ गया है। अब चूंकि अहंकार पर भी "मेरे" का तिलक लगता है इसलिये इसको स्वयं या "मैं" कहना गलत है। अहंकार को तुम जानते भी हो यानी इसके ज्ञाता भी हो। इसलिये अहंकार से भी तुम न्यारे हो। सो तुम कौन हो?"

समीक्षाः—महात्मा का यह कहना ठीक है कि "मैं" अहंकार नहीं क्योंकि अन्तःकरण जड़ है और अहंकार भी जड़ अन्तःकरण एक रूप है इसलिये अहंकार भी जड़ हुआ और "मैं" जड़ नहीं हो सकता क्योंकि जड़ में ज्ञान नहीं होता

पर "मैं" में ज्ञान है क्योंकि यह ज्ञाता है। "मैं" अहंकार नहीं पर "मैं" को जानने का अहंकार एक साधन है । इसी अहंकार और बुद्धि द्वारा ही "मैं" अपने आपको जान सकता है कि "मैं" कौन हूँ।

जिज्ञासुः—"भगवन् ! आपके कथनानुसार "मैं" जब न स्थूल शरीर हूं, न ज्ञान और कर्मेन्द्रियां हूं, न प्राण हूँ, न मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार ही हूँ। तब "मैं" कुछ नहीं हूँ, शून्य ही "मैं" हूं ऐसा कहना होगा।"

महात्माः—"शून्य भी तुम नहीं हो सकते क्योंकि शून्य भी विना साक्षी के सिद्ध नहीं हो सकता है। एक पिता ने अपने पुत्र को कमरा खाली करने को कहा । लड़के ने जब कमरा बिल्कुल खाली कर दिया तब पिता ने पूछा कि अब कमरे में बाकी क्या है ? लड़के ने कहा पिता जी! कमरे में अब कुछ नहीं है, शून्य ही शून्य है। पिता ने कहा जब कमरे में केवल शून्य ही है तो दरवाजा बन्द करूं ? लड़का घबरा कर बोला कि पिताजी मैं तो हूँ, मुझ विना कमरे को शून्य कौन देखे। अतः हे शिष्य! शून्य को देखने वाला भी कोई होना चाहिये। सुषुप्ति में शून्य अवस्था को भी तुम जान रहे हो। अतः शून्य हुआ ज्ञेय और तुम हुए ज्ञाता। ज्ञाता ज्ञेय से भिन्न होता है इसलिये तुम शून्य से भी अलग हो। जो तुम शून्य से भी अलग हो सो तुम कौन हो ?"

जिज्ञासुः—"अब तो मेरे सामने अज्ञान ही अज्ञान छा रहा है। हो सकता है यह जो अज्ञान बाकी बच गया है वह ही "मैं" हूं।"

महात्माः—"नहीं वत्स! अज्ञान को भी तुम जान रहे हो। यदि अज्ञान को न जानते होते तो अज्ञान को नष्ट करने

का प्रयत्न ही न करले। अतः जो तुम इस अज्ञान के ज्ञाता (साक्षी) होने के नाते इस से भी न्यारे हो वह तुम कौन हो।"

जिज्ञासुः—"भगवन्! अब क्या कहूं, कुछ कहते बनता नहीं। जो कुछ नाम रूप आदि कहता हूं, वे सब दृश्य हैं, "मैं" दृश्य नहीं। "मैं" तो दृश्य से भिन्न दृश्य का द्रष्टा हूँ। अतः अब यह कहा जा सकता है कि "मैं" न स्थूल शरीर हूं, न इन्द्रियां, न प्राण, न मन, न बुद्धि, न चित्त, न अहंकार, न शून्य और न अज्ञान हूँ। कहने का भाव यह है कि "मैं" अव्यक्त (कारण प्रकृति) तथा व्यक्त (प्राकृतिक कार्य) सबसे परे. इन सबका ज्ञाता, द्रष्टा अर्थात् साक्षी हूं। "मैं" जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं समाधि इन चारों अवस्थाओं का प्रकाशक हूं, "मैं" सूर्य को जानता हूं, सूर्य मुझे नहीं जानता "मैं" चन्द्रमा को जानता हूं, चन्द्रमा मुझे नहीं जानता। "मैं" अग्नि को जानता हूं, अग्नि मुझे नहीं जानती। "मैं" पृथ्वी को जानता हूँ, पृथ्वी मुझे नहीं जानती। कहां तक कहूँ "मैं" सबको जानता हूं, मुझे कोई नहीं जानता।"

महात्माः—"जो तुम सब को जानते हो सो तुम जड़ हो कि चेतन ?"

जिज्ञासुः—"मैं तो चेतन हूं। मैं चेतन ज्योति हूं जो कभी नहीं बुझती। यदि "मेरा" अर्थात् साक्षी चेतन स्वरूप का भी अभाव हो जावे तो उस अभाव को कौन जनवावे। अतः जिस करके सब सिद्ध होता है सो ज्ञान स्वरूप साक्षी ही मेरा स्वरूप है अतएव "मैं" सब को सिद्ध करने वाला, प्रकाशित करने वाला हूं और मुझे कोई प्रकाशित नहीं करता फिर भी प्रत्यक्ष हूं, क्योंकि स्वयं प्रकाश हूँ। अब भगवन्! मैंने अपने स्वरूप का परिचय दे दिया है कि "मैं" चेतन हूँ, सर्व का प्रकाशक साक्षी हूँ। अब मुझे आत्मस्वरूप ब्रह्म से मुलाकात

करवा दीजिये ।"

महात्मा:—"जो तू सर्व का ज्ञाता साक्षी चेतन है वही तो तू आत्मा है । आत्मा का अर्थ ही है अपना आप । सो तुम्हारा अपना आप अर्थात् आत्मा चेतन सबका साक्षी है, यह तो प्रत्यक्ष ही है । अतः आत्मा प्रत्यक्ष है यह बात सिद्ध हुई । और चैतन्य आत्म-तत्त्व केवल इस उदयसिंह शरीर का अपना आप असली स्वरूप नहीं वरन् सभी प्राणियों की जान है । सभी का असली स्वरूप यही है । जैसे बिजली केवल एक बल्ब में होने वाले प्रकाश की ही जान नहीं परन्तु तमाम बल्बों में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रकाश हो रहे हैं, उन सब का असली स्वरूप है । उसी प्रकार केवल तुम्हारा असली स्वरूप चेतन नहीं है, परन्तु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का असली स्वरूप यही चेतन आत्मा है । ब्रह्म शब्द का अर्थ है व्यापक, सो जो तू सर्व का प्रकाश आत्म-तत्त्व है यह केवल एक ही जगह नहीं है परन्तु सारे विश्व में व्यापक है । तुम सभी के हृदय में साक्षी के रूप से जगमगा रहे हो । इसलिये चूंकि तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अधिष्ठान साक्षी चेतन के रूप में व्यापक हो इसलिये तुम्हें अर्थात् आत्मा को वेद कहते हैं "अयम् आत्मा ब्रह्म" (अथर्व वेद) अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है । बस ऐसा प्रत्यक्ष निश्चय दृढ़ हो जाना ही ब्रह्म ज्ञान है । इसी साक्षी स्वरूप चेतन आत्म-तत्त्व को ही लक्ष्य करके सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं कि "तत्त्वमसि" अर्थात् वह (व्यापक ब्रह्म चैतन्य) तू (साक्षी चेतन) हैं । इसी शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्म-तत्त्व को लक्ष्य करके यजुर्वेद कहता है—'अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् मैं (साक्षी चेतन) ब्रह्म (सर्वत्र व्यापक) चैतन्य तत्त्व हूँ । ऋग्वेद ने भी प्रकाशक चेतन ज्योति को लक्ष्य करके कहा कि "प्रज्ञानं ब्रह्म" अर्थात् यह चेतन ज्योति ब्रह्म

है। यह चेतन आत्मा ही सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा है। अतः किसी कवि ने कहा है:—

"जो तू ढूंढे आपको सो तू आपै आप।
आप भुलानो आप तै बन्ध्यो आप ते आप॥

अर्थात् जिस ब्रह्म तत्त्व की खोज में तू है, वही ब्रह्म तू (साक्षी चेतन) है। नानक साहब भी कहते हैं कि:—

"सो प्रभु दूर नहीं, प्रभु तू है।"

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि—

"सो तैं ताहि तोहि नहीं भेदा।
वारि वीचि इव गावहि वेदा॥"

अर्थात् जैसे जल और लहर में भेद नहीं उसी प्रकार ब्रह्म में और तुझ में भेद नहीं।

बस इस प्रकार यदि अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि आदिकों से अभिमान को हटा कर, इनमें से अहंता और ममता को हटाकर अपने को व्यापक तत्त्व अनुभव करोगे तब परिच्छिन्न-भाव द्वैतभाव मूलक जो राग द्वेष हैं, वे सब समाप्त हो जावेंगे। हृदय में तुम्हारे असली स्वरूप आत्मानन्द का राज्य होगा। संतप्त हृदय शान्त रहेगा तथा व्यवहार करते हुए भी सर्वदा साक्षी भाव में स्थित रहने से राग द्वेष मूलक अनुदुःखों की निवृत्ति हो जावेगी, और वासनाओं के नाश तथा जन्म-मरण के चक्कर की निवृत्ति होकर निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्मस्वरूप से सदा के लिये स्थितिरूप विदेह-मोक्ष को प्राप्त करके अपना मनुष्यजन्म सफल कर लोगे।"

पूज्य स्वामी जी महाराज! यह आपने आत्मदर्शन के विषय में (१ से २४ पृष्ठ तक) अपनी पुस्तक 'सरल वेदांत' में महात्मा

और जिज्ञासु की वार्तालाप से बहुत अच्छी तरह सिद्ध किया है कि प्राकृतिक जड़ शरीर से चेतन आत्मा भिन्न है जो इस शरीर का मालिक है और इस शरीर के हृदय में निवास करता है। यानि दो तत्त्व हैं—एक अनात्म-तत्त्व और दूसरा आत्म-तत्त्व। अनात्म-तत्त्व जड़ है जिससे शरीर बना हुआ है आत्म-तत्त्व चेतन आत्मा है जो शरीर के हृदय में निवास करता है। यह ही विवेक यानि तत्त्व-ज्ञान है। इस वार्तालाप में कुछ बातें विचारणीय हैं।

जिज्ञासु ने जब आत्म-दर्शन की इच्छा प्रकट की तो महात्मा ने कहा कि "जब तुम खुद को (अपने आपको) नहीं जानते तो (खुदा=परमात्मा) को कैसे पहचानोगे।" यह महात्मा ने बिल्कुल ठीक कहा है। जैसे एक व्यक्ति बेहोश पड़ा हो और उसके पिता जी उसके सामने खड़े हों तो वह अपने पिता जी को तब पहचानेगा जब वह होश में आकर पहले अपने आपको पहचान लेगा यानि पहले उसको अपने आपका (खुद का) ज्ञान होगा तब पिता जी का ज्ञान होगा। महात्मा कहते हैं कि तू खुद तो अज्ञान से बेहोश पड़ा है और परमात्मा (खुदा) तेरा पिता तेरे अति समीप है [अन्ति सन्तं (अथ० १०-८-३२)]। तू होश में आकर पहले खुद को पहचान। जब तू खुद को (अपने आपको) पहचान लेगा तब तू अपने पिता परमात्मा को भी जान सकेगा। प्रश्न होता है यह "खुद" कौन है जो अज्ञान-वश बेहोश पड़ा है और अपने आपको नहीं पहचानता ? यह है तो कोई चेतन, परन्तु है अज्ञानी और अज्ञान के कारण बेहोश पड़ा है। जब तक विवेक ज्ञान से होश में आकर अपने आपको नहीं पहचान लेता कि वह जड़ शरीर नहीं, वह एक चेतन आत्मा है जो शरीर से भिन्न, शरीर का मालिक है तब तक अपने पिता चेतन

परमात्मा के दर्शन नहीं कर सकता।

प्रश्न होता है कि वह अपने आपको किस तरह पहचान सकता है कि वह जड़ शरीर से भिन्न एक चेतन आत्मा है? महात्मा ने जिज्ञासु को कहा "जहां अहं-भाव मरा वहां आत्म दीदार हुआ (याने आत्म ज्ञान हुआ)।" महात्मा जी का यह कहना कि अहं-भाव के मरने से आत्म दीदार होता है ठीक मालूम नहीं होता क्योंकि अहङ्कार (अहं-भाव) ही एक ऐसा साधन (उपकरण) है जिससे यह शरीर में रहने वाला चेतन आत्मा अपने आपको शरीर से भिन्न, शरीर का मालिक, शरीर में निवास करने वाला और शरीर के उपकरणों से काम लेने वाला समझने लगता है। प्रश्न होता है "किस तरह"? वह इस तरह कि अहङ्कार से उसमें अहं-भाव याने "मैं" का भाव पैदा होता है। वह अहं-भाव याने "मैं" पर जब विचार करता है कि "मैं" कौन हूँ? विचार करते-करते उसको यह ज्ञान हो जाता है कि मैं एक स्थूल शरीर, रक्त, हाड़, मांस का थैला नहीं हूं। यह तो अन्न से बना है अन्तमें अन्न में अर्थात् मिट्टी में मिल जायगा। मैं न मोटा हूं, न पतला हूं, न गोरा हूं, न काला हूं, न स्त्री हूँ, न पुरुष हूं, न मनुष्य हूं, न पशु हूं, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र हूँ। ज्ञान और कर्मेन्द्रियां, मन, चित्त, बुद्धि, अहङ्कार यह जड़ प्राकृतिक पदार्थ मेरे उपकरण हैं। "मैं" चैतन्य स्वरूप आत्मा इन उपकरणों (साधनों) से काम करता हूं। आंखें नहीं देखतीं "मैं" देखता हूँ। दुःख, सुख मन अनुभव नहीं करता वह तो जड़ है, मन उपकरण द्वारा "मैं" चैतन्य आत्मा दुःख सुख अनुभव करता हूँ। जड़ बुद्धि विचार नहीं करती, बुद्धि से "मैं" चेतन आत्मा विचार करता हूं। भक्ति "मैं" चेतन आत्मा करता हूं, जड़ मन का काम भक्ति करना नहीं। चंचल मन तो मुझे भक्ति से दूर ले

जाता है। "मैं" मन को वश में करके फिर भक्ति करता हूँ। इस तरह विवेकी बनकर अहङ्कार (अहं-भाव याने "मैं") पर विचार करने से इस बात का ज्ञान हो जाता है कि "मैं" जड़ शरीर से भिन्न एक चेतन आत्मा हूं। महात्मा और जिज्ञासु की वार्तालाप से भी यही मालूम होता है कि वह भी अहङ्कार याने अहं-भाव ("मैं") पर विचार करने से ही इस निर्णय पर पहुँचे कि "मैं" एक चेतन आत्मा है जो जड़ शरीर से भिन्न है। यह निर्णय तो उनका ठीक था कि "मैं" चेतन आत्मा है परन्तु इस "मैं" को समझने में एक बड़ी भूल कर गये। वह यह कि उन्होंने इसी "मैं" को परमात्मा समझ लिया। "मैं" को चेतन आत्मा समझना तो ठीक था परन्तु इस "मैं" को परम-आत्मा समझ लेना एक बड़ी भूल थी। इसी भूल का ही परिणामहै कि एक नया मत अद्वैतवाद पैदा हो गया। यदि विवेकी बनकर तत्त्वज्ञान से वह अपनी "मैं" को याने अपने आपको ठीक-ठीक समझ लेते तो वह अपनी "मैं" को कभी पर-मात्मा न कहते। प्रश्न होताहै कि इस भूल का कारण क्या है? इसका कारण है अति-अहं-भाव का परदा। अहंकार (अहं-भाव याने "मैं" की भावना से यह तो मालम हो गया कि "मैं" एक चेतन आत्मा हूं परन्तु जब अहंकार का दुरुपयोग होता है तो अति अहं-भाव पैदा हो जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि वह कहने लगता है कि बस "मैं" ही मैं हूँ, मेरे बराबर और कोई नहीं। यह "अहं-भाव बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है कि यह "मैं" अपने आपको सृष्टि का रचयिता परमात्मा (ब्रह्म) समझने लगता है और कहता है "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् "मैं" ब्रह्म हूँ। अज्ञान के कारण यह अति अहं-भाव ही (अति अहङ्कार ही)

उसके लिये परदा बन जाता है जिस कारण वह परमात्मा के दर्शन नहीं कर सकता। इसी प्रसंग में महात्मा ने अपनी वार्तालाप में एक शेर लिखा है:—

"खोलकर आंख जरा देख तो ले ऐ गाफिल।
तेरी ही हस्ती हिजाबे रूखे पुरनूर न हो।"

अर्थात्—ऐ गाफिल! जरा आंख खोल कर देख कि कहीं तेरा अपना आप(अहं-भाव) ही तो तेरे और परमात्मा के बीच में (हिजाब) परदा नहीं बन गया। महात्मा का यह शेर बिलकुल ठीक है। सचमुच जिज्ञासु का अति-अहं-भाव (अति-अहंकार) (अहं ब्रह्मास्मि) ही उसके और परमात्मा के बीच परदा बन गया। जिज्ञासु और महात्मा की वार्तालाप में आप देखेंगे कि जिज्ञासु जब अपनी "मैं" को समझ न सका तो कहने लगा "अब तो मुझे कुछ भी नहीं सूझता कि "मैं" क्या हूं। अब तो मेरे सामने अज्ञान ही अज्ञान छा रहा है।" बस यह अज्ञान ही अति-अहं-भाव के रूप में एक परदा बनकर उसके सामने खड़ा हो गया और वह कहने लगा बस "मैं" ही "मैं" हूं और कुछ नहीं है, मैं ही सृष्टि रचयिता परमात्मा हूं। महात्मा भी उसके इस अज्ञान के परदे को दूर न कर सके, अपितु खुद भी उसी अज्ञान के परदे में फंस कर जिज्ञासु को कहा कि तेरा अपना आप यानि आत्मा ही सर्व का ज्ञाता साक्षी, सृष्टि का रचयिता परमात्मा है। जिज्ञासु परमात्मा के दर्शन करना चाहता था परन्तु अति-अहं-भाव से खुद को ही खुदा (परमात्मा) समझ बैठा। अब दर्शन किस का और कौन करे? "जब खुद ही खुदा बन बैठे, तो खुदा के दर्शन कौन करे?" "जब द्रष्टा ही दृश्य बन बैठा, तो दृश्य के दर्शन कौन करे?" "जब प्रेमी प्रियतम बन बैठा, फिर प्रियतम से प्रेम कौन करे?" "जब उपासक उपास्य बन बैठा, फिर उपास्य की उपासना कौन करे?"

इसलिये यदि जिज्ञासु परमात्मा के दर्शन करना चाहता है तो उसको शीघ्र-अति-शीघ्र इस अति-अहं-भाव को मारना होगा यानि अति-अहं-भाव(अति-अहङ्कार) के परदे को हटाना होगा,यानि अहं ब्रह्मास्मि की भावना को समाप्त करना होगा।

प्रश्न होता है कि इस अति-अहं-भाव को मारने का उपाय क्या है ? इस का उपाय है कि जिस तरह विवेक (तत्त्व ज्ञान) से जिज्ञासु के शरीर में "मैं" "मैं", "मेरा" "मेरा" करने वाले को यह ज्ञान हो गया था कि "मैं" जड़ शरीर से भिन्न, इस शरीर में निवास करने वाला, इस शरीर का मालिक एक चेतन आत्मा हूं इसी तरह विवेक (तत्त्व ज्ञान) से उसको अपनी "मैं" (आत्मा) का वास्तविक स्वरूप भी मालूम हो जायेगा कि वह चेतन आत्मा तो है पर परमात्मा नहीं। परमात्मा इस से भिन्न एक महान् चेतन आत्मा है।

आओ विवेक (तत्व ज्ञान) से जिज्ञासु के आत्मा (जो अपने आपको परमात्मा समझता है) के वास्तविक स्वरूप को मालूम करने के लिये उस पर प्रश्न करें:—

प्रश्नः—क्या आंखों से तू देखता है या आंखें देखती हैं ?

आत्माः—आखों से मैं (चेतन आत्मा) देखता हूँ। आंखें जड़ हैं। वह वह ज्ञान शून्य हैं। इसलिए वह नहीं देख सकती।

प्रश्नः—क्या तू विना आंखों के देख सकता है ?

आत्माः—नहीं। यदि देख सकता तो फिर अन्धा कोई न होता। मैं चेतन आत्मा हूँ। मेरे में देखने की शक्ति तो है पर आंखों का मोहताज हूँ। आंखें मेरे देखने के उपकरण हैं।

प्रश्नः—क्या यह आंखें आपने अपने देखने के लिये स्वयं बनाई हैं, या माता पिता ने, या किसी वैज्ञानिक ने बनाई हैं ?

आत्माः—नहीं।

प्रश्न:—यदि आंखें होतीं और सूर्य न होता तो तू देख सकता ?

आत्मा:—कभी नहीं। आंखें होते हुए भी अन्धेरे में ठोकरें खाता।

प्रश्न:—क्या यह सूर्य आपने अपने लिये स्वयं बनाया है?

आत्मा:—नहीं। यह तो एक ऐसा अद्भुत प्रकाश देने वाला पदार्थ है कि बड़े-बड़े वैज्ञानिकों की समझ से बाहर है। इसका बनाना तो दूर की बात है। इसका तो समझना भी मुश्किल है।

प्रश्न:—यह भी बताओ कि क्या कान, नाक, जबान, त्वचा, अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार) और पांच कर्मेन्द्रिय खुद काम करती हैं या इन से तू काम करता है ?

आत्मा:—वह तो जड़ है। गति और ज्ञान शून्य हैं। यह सब मेरे उपकरण (साधन) हैं। मैं चेतन आत्मा इन से काम करता हूं। कान से सुनता हूँ, नाक से सूंघता हूँ, जिह्वा से रस लेता हूँ, त्वचा से छूता हूं, मन से विचार करता हूँ, बुद्धि से जानता हूँ, चित्त से चिन्तन करता हूँ, अहङ्कार से अपने आपको पहिचानता हूं, हाथों से काम करता हूँ, पांवों से चलता हूं, जिह्वा से बोलता हूं, मल-मूत्र इन्द्रियों से मल-मूत्र और वीर्य त्यागता हूं। जैसा कि प्रश्नोपनिषद् ४-९ में भी लिखा हुआ है "एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः!" अर्थात् यह जीवात्मा ही देखता है, सुनता है, सूंघता है आदि।

प्रश्न:-क्या इन तमाम उपकरणों के विना तू काम कर सकता है। यदि नहीं तो क्या यह उपकरण तू ने बनाये हैं ?

आत्मा:—मैं इनके विना कुछ नहीं कर सकता और न यह मैंने बनाये हैं।

प्रश्नः—क्या विना प्राण, वायु, अग्नि, जल, अन्न, पृथिवी सूर्य, चन्द्रमा आदि के अपने जड़ शरीर को जीवित रख सकते हो। यदि नहीं तो क्या यह आप बनाते हैं।

आत्माः—इनके विना जीवित नहीं रह सकता और न यह मैं बना सकता हूं।

प्रश्नः—तो फिर तेरे लिये तेरा शरीर,ज्ञान और कर्मेन्द्रियां अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार) वायु, अन्न, जल, सूर्य, चन्द्रमा और नाना प्रकार के अन्य पदार्थ तेरी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कौन बनाकर तुझे देता है? जो तू इन पदार्थों को नहीं बना सकता तो बता वह कौन है जो यह सब कुछ तेरे लिये बनाता है?

आत्माः—इस तत्त्व-ज्ञान से मेरे सामने से मेरे अति-अहं-भाव (अहं ब्रह्मास्मि की भावना)का परदा दूर हो गया है और मुझे ऐसा अनुभव होने लगा है कि मुझ चेतन आत्मा से अति-रिक्त एक और बहुत महान् चेतन आत्मा है जिस ने यह सब कुछ मेरे लिये बनाया है।

प्रश्नः—यदि यह सब कुछ बना कर तुम को इन जड़ पदार्थों का ज्ञान, तुम्हारे अपने आप (खुद) का ज्ञान कि तुम कौन हो, तुम्हारे जीवन लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों का ज्ञान, और अपने आप (यानि सब पदार्थों की रचना करने वाले) का ज्ञान न देता तो फिर क्या होता?

आत्माः—यदि वह ज्ञान न देता तो मेरे लिये उसकी यह तमाम रचना निरर्थक हो जाती क्योंकि मेरे में तो ज्ञान था ही नहीं। विना उसके ज्ञान-प्रकाश के न तो मैं किसी पदार्थ को समझ कर उसको प्रयोग में लाकर लाभ उठा सकता, न अपने जीवन-लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों को समझ सकता, न जड़ माया और उस से बने हुए पदार्थों को समझ सकता, न

अपने आपको जड़ शरीर से भिन्न एक चेतन आत्मा समझ सकता और न ही अपने से भिन्न एक महान् चेतन आत्मा को जान सकता जो मुझे सब कुछ देने वाला है। इस लिये इन सब बातों को समझने के लिये उस महान् चेतन सर्वज्ञ आत्मा ने सृष्टि के शुरु में ही वेद ज्ञान दे दिया।

प्रश्नः—क्या तुम को अपना जीवन लक्ष्य मालूम है ?

आत्माः—हां! मेरा जीवन लक्ष्य है मोक्षानन्द को प्राप्त करना। संसार में जितने भी मनुष्य–हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, आदि हैं उन सबके शरीरों में जो चेतन आत्मा हैं वह सब दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त करना चाहते हैं। वह सब आनन्द के मजनूं हैं।

प्रश्नः—क्या तुम्हारे में आनन्द नहीं है ?

आत्माः—नहीं। इसीलिये तो वेदान्त दर्शन १। १। १६ में स्पष्ट लिखा हुआ है "नेतरोऽनुपपत्तेः।" (इतरः) ब्रह्म से भिन्न जो शरीर में निवास करने वाला आत्मा है, वह, (न) आनन्दमय नहीं हो सकता, (अनुपपत्तेः) क्योंकि पूर्वापर के वर्णन से यह बात सिद्ध नहीं होती। स्वामी शंकराचार्य जी ने भी जीव को आनन्दमय नहीं माना, उन्होंने लिखा है "जीव आनन्दमयः शब्दो नाभिधीयते।"

"मैं" शरीर निवासी दुःख-सुख भोगने वाला आत्मा आनन्द स्वरूप कैसे हो सकता हूँ ? इसीलिये तो मैंने अपने वार्तालाप में महात्मा जी से प्रार्थना की थी कि "मैं सब दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिये परमात्मा का दर्शन करना चाहता हूँ।" यह ही मेरे जीवन का लक्ष्य है।

प्रश्न—क्या आप आनन्द के भिखारी हैं और यह आनन्द भी आपको उसी महान् आत्मा से मिलेगा ?

आत्मा—हां। यह आनन्द का दाता भी वही है।

प्रश्न—अब बताओ जो तुमको तुम्हारी जीवन यात्रा के लिये तुम्हें भौतिक शरीर रूपी रथ देता है और इस शरीर को जीवित रखने के लिये अन्य भौतिक पदार्थ भी देता है और लक्ष्य (मोक्षानन्द) की प्राप्ति के लिये अपना ज्ञान भी देता है और जब तुम अपने पुरुषार्थ से मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हो तो तुमको अपने आनन्द से आनन्दित कर देता है वह कितना महान् है। क्या तुम उसकी बराबरी कर सकते हो ?

आत्मा—"जब से मैंने आपके प्रश्नों पर तत्त्व-ज्ञान की रोशनी में विचार करना शुरू किया है मेरे ज्ञान-चक्षु खुल गये हैं। मुझे अपनी लघुता और उसकी महानता का ज्ञान हो गया है। वह इतना महान् है कि मैं उसके एक अंश के बराबर हूँ। वह एक समुद्र के समान है और मैं एक जलबिन्दु के समान हूं। मैं एक पानी के बुदबुदे के समान हूं और वह समुद्र के समान है। मैं जल की एक लहर के समान हूँ और वह समुद्र के समान है। मैं सब चीजों का मोहताज हूँ वह स्वतन्त्र है। मैं आंख, आंख की ज्ञानेन्द्रिय, अग्नि (सूर्य) और अग्नि के सूक्ष्म तत्त्व (तन्मात्रा) रूप के बिना देख नहीं सकता। परन्तु वह आंख के बगैर आंखों को और सब कुछ बनाता है, और बगैर आंखों के सब कुछ देखता है"स पश्यत्यचक्षुः"। मै कान,कान की ज्ञानेन्द्रिय, आकाश और आकाश के सूक्ष्म तत्त्व (तन्मात्रा) शब्द के बगैर सुन नहीं सकता। परन्तु वह कानों के बनाने वाला है और बिना कानों के सुनता है "स शृणोत्यकर्णः"। इसी तरह वह बिना उपकरणों के सब काम करता है, मैं उपकरणों का मोहताज हूँ। मैं उसकी बनाई हुई चीजों का प्रयोग तो कर सकता हूँ परन्तु उसकी बनाई हुई चीजों को बना नहीं सकता। लकड़ी उसकी बनाई हुई है, मैं लकड़ी की चीजें बना सकता

हूँ, मगर लकड़ी नहीं बना सकता। लकड़ी भी वह देता है। और चीजों के बनाने का ज्ञान भी वही देता है। सोना मैं नहीं बना सकता, सोने के जेबर बना सकता हूँ। सोना वह देता है और जेबर बनाने का ज्ञान भी वही देता है। इसी तरह अपना ज्ञान वेद मन्त्रों में देता है इनको समझने के लिये बुद्धि भी वही देता है जिससे मैं वेद मन्त्रों को समझ सकता हूँ मगर मन्त्र एक भी नहीं बना सकता क्योंकि यह मन्त्र उसकी बनाई हुई कविता है। (वह कवि है)। वह ज्ञान-स्वरूप सर्वज्ञ है। मेरे में बहुत ही थोड़ा ज्ञान है इसलिये मैं अल्पज्ञ हूँ। उसका ज्ञान है समुद्र के बराबर और मेरा पानी से भरे हुए एक गड़हे के बराबर। और यह थोड़ा ज्ञान भी उसी का दिया हुआ है। यदि ज्ञान मेरा भी स्वाभाविक होता तो फिर मेरे में अज्ञान न होता और न ही वेदज्ञान की आवश्यकता होती। जब उसकी रचना को देखता हूँ "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" जो न कभी खतम होती है और न पुरानी होती है तो उसके पूर्ण ज्ञान, कारीगरी और बल पर हैरान होता हूँ। जब वीर्य की एक बूंद गर्भ में जाती है तो १० मास के पश्चात् एक सुन्दर बालक के रूप में बाहर आ जाती है। एक बूंद वीर्य पर ऐसी कारीगरी न कभी सुनी थी न देखी थी। ओ निराले कारीगर तेरी कारीगरी पर कुरबान। यह पृथिवी एक बहुत बड़ा कारखाना है उसका जिसमें वह हमारे लिये सोना, चांदी, लोहा, हीरे आदि और नाना प्रकार के पदार्थ और अन्न, फल, वृक्ष, वनस्पतियां आदि तैयार कर रहा है। अजीब बात यह है कि इस कारखाने में अनेक पदार्थ बन रहे हैं परन्तु मजदूर एक भी काम नहीं करता। सब काम वह अकेला ही कर रहा है। कितना बलवान् है वह। यह पृथिवी जिसका वजन २१०००००००००००००००००००००००

टन है (१ टन २८ मन के बराबर होता है) उसको बगैर किसी सहारे के गेंद की तरह १००० मील प्रति घण्टा की रफ्तार से घुमा रहा है । सूर्य जो पृथिवी से १३ लाख गुना बड़ा है उसको इस पृथिवी से ६।। करोड़ मील की दूरी पर एक गेंद की तरह घुमा रहा है । असंख्य सूर्य, चन्द्रमा और सितारे आकाश में लटक रहे हैं और तेजी से घूम रहे हैं बिना किसी के सहारे । यह उसी की शक्ति है जिसने इन सबको थामा हुआ है ।

"सूरज जमीं सितारे उसके ही हैं सहारे ।।
सारे निजामे शमसी वही चला रहा है ।।"

कितना शक्तिमान् है वह इसका अन्दाजा लगाना कठिन है । कितना जबरदस्त है इन्तिजाम उसका । उसके सृष्टिनियम अटूट हैं कोई उनको तोड़ नहीं सकता । सब उससे भयभीत हो रहे हैं और उसके भय से नियमानुसार अग्नि तपती है अर्थात् काम करती है, उसके भय से सूर्य चलता है, उसके भय से इन्द्र अर्थात् बिजली चलायमान होती है, उसी के भय से वायु चलती है । उसी के भय से मृत्यु काम करती है । जैसा कि तै० ३०-८-१ में लिखा है—

"भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।"

सबके कर्मों का वह अध्यक्ष और कर्मफल दाता है । पाप करके कोई उसके राज्य से भाग नहीं सकता क्योंकि वह सर्वव्यापक है । मनुष्य-शरीरों में निवास करने वाले जो आत्मा उसके दिये हुए ज्ञान के, अनुकूल आचरण करके मोक्ष पद के अधिकारी हो जाते हैं वह उनको मोक्षपद प्रदान करके मोक्ष काल में उनको अपने आनन्द से आनन्दित करता रहता है ।

कितना दानी और कल्याणकारी है वह महान्-आत्मा । वह अद्वितीय है ।"

ऐ जिज्ञासु ! आप बड़े भाग्यशाली हैं कि तत्त्व-ज्ञान से आपके ज्ञानचक्षु खुल गये हैं जिनसे आपने अपनी चेतन आत्मा से भिन्न एक महान् चेतन आत्मा की सत्ता का अनुभव कर लिया है। अब जब कि आपको अपने लघुत्व और उसकी महानता का ज्ञान हो गया है आप इसी वक्त अपने अति-अहं-भाव (अहं ब्रह्मास्मि की भावना) को मारकर निम्नलिखित शब्दों में अपने से महान् चेतन आत्मा याने परमात्मा को उपास्यदेव मानकर, खुद उपासक बनकर उसके चरणों में झुक कर बहुत नम्रता और स्तुति, प्रार्थना और उपासना के साथ उसको नमस्कार करें:—

"नमस्ते सते ते जगत्-कारणाय
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय,
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ।।"

हे सदा रहने वाले जगत् के कारण प्रभो ! तुझे नमस्कार हो। सर्वलोक के आश्रय चेतन स्वरूप ! तुझे प्रणाम हो। सुख-स्वरूप मुक्ति के दाता तुझे नमस्कार हो। हे सर्वव्यापक पर-ब्रह्म तुझे बार-बार प्रणाम हो।

भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्,
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकम्,
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ।।

हे परमात्मन् ! आप भयों को भय देने वाले हैं, भीषणों

को भी डराने वाले हैं। आप ही हमारी गति हैं। पवित्रों के पवित्र कर्त्ता आप हैं। आप महाराजों के महाराज हैं, परे से परे हैं और रक्षा करने वालों के भी आप रक्षक हैं।

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यम्,
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृ-पातृ-प्रहर्तृ,
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥

हे प्रभो! आप ही हम सबकी रक्षा करने वाले हो, आप ही सबसे श्रेष्ठ हो, आप ही जगत् के पालक और स्वप्रकाशक हो। परमात्मन्! आप ही अकेले जगत् के कर्त्ता, रक्षक और संहारकर्त्ता हैं। आप ही एक सबसे बड़े अचल और विकार-रहित हो।

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो,
वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशम्,
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥

हे परमात्मन्! हम आपका ही स्मरण करते रहें। आपका ही भजन करें। आपको ही सर्व-साक्षी जानकर पूजें। आप एक हैं, सबके आधार हैं और अपने आधार भी स्वयं हैं, आपको किसी के आधार की आवश्यकता नहीं। संसाररूपी समुद्र में रक्षा करने वाले पोत (जहाज) आप ही हैं। हे प्रभो! हम आप को प्राप्त हों॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके,
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।

स कारणं करणाधिपाधिपो,
न चास्य कश्चित् जनिता न चाधिपः ॥

हे परमात्मन् आपका इस लोक में कोई पालक नहीं, न कोई शासक हैं। न ही आपकी मूर्ति है। आप कारणों के भी कारण हैं। न कोई आपका उत्पादक हैं, न ही आपका स्वामी है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्,
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्,
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

हे प्रभो! आप महेश्वरों के भी महेश्वर हो। देवताओं के भी आप पूजनीय देव हो। आप पतियों के भी अधिपति हो। हे सर्व जगत् के शासक! हम आपकी स्तुति तथा उपकारों का गान और चिन्तन सदा करते रहें।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

हे हमारे उत्पादक! तू ही हमारी माता और पिता है, तू ही हमारा बन्धु और सखा है। तू ही हमारी विद्या और धन है, तू ही हमारा सब कुछ है।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

हे सर्वज्ञ, सबके आधार आनन्द स्वरूप परमात्मन्। आप

तीनों कालों में होने वाले व्यवहारों के ज्ञाता हैं, ब्रह्मांड के सब पदार्थ तेरे आधार पर तेरे में ही ठहरे हुए हैं, तू केवल आनन्द ही आनन्द है, आप आनन्द स्वरूप हैं। आप परम ब्रह्म हैं, सब से बड़े हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं।

ऐ जिज्ञासु! जो मनुष्य प्रतिदिन उस महान् आत्मा (परमात्मा) को उपास्य देव मान कर स्वयं उपासक बनकर ऐसी ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करता है उसका अति-अहं-भाव अवश्य ही समाप्त हो जाता है फिर वह कभी अपने आप को "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं परमात्मा हूँ) कहने का साहस नहीं करता। इस लिये तू प्रतिदिन प्रातः ४ बजे ब्राह्म मुहूर्त्त में उस की स्तुति, प्रार्थना, उपासना किया कर। आप प्रश्न करेंगे कि इस समय को ईश्वर मुहूर्त्त, शिव मुहूर्त्त, नारायण मुहूर्त्त, ओम् मुहूर्त्त, परमात्मा मुहूर्त्त क्यों नहीं कहा गया? ब्राह्म मुहूर्त्त ही क्यों कहा गया है? वह इसलिये कि ब्रह्म के अर्थ हैं बड़ा। तो ब्राह्म मुहूर्त्त के अर्थ हुए बड़ी मुहूर्त्त यानि वह मुहूर्त्त जिसमें बड़े की उपासना की जाती है। इस ब्राह्ममुहूर्त्त में अपने से बड़े की उपासना करोगे, उसको बड़ा मानोगे तब अति-अहं-भाव मरेगा। प्रश्न होता है कि परमात्मा को ब्रह्म यानि बड़ा क्यों कहा गया है? वह इस लिये कि परमात्मा से भिन्न सत्ता वाले उस से छोटे जीव हैं। इसलिये परमात्मा को ब्रह्म यानि बड़ा कहा गया है। यदि केवल एक परमात्मा की ही सत्ता होती और उस से छोटी सत्ता वाले जीव (शरीरों में निवास करने वाले आत्मा) न होते तो परमात्मा को ब्रह्म कहना ही अशुद्ध हो जाता। या तो परमात्मा से छोटी आत्मा (जीव) की सत्ता को ब्रह्म से भिन्न मानना पड़ेगा या परमात्मा को ब्रह्म कहना छोड़ना पड़ेगा। जिसके घर में एक ही लड़का हो उसको बड़ा या छोटा कौन कहेगा! यदि कहोगे तो यह कहना अशुद्ध होगा। केवल एक को न बड़ा कह सकते हो न

छोटा। इस लिये अपने आपको (जीवात्मा को) परमात्मा से भिन्न छोटी चेतन सत्ता स्वीकार किये बिना परमात्मा को ब्रह्म (बड़ा) नहीं कहा जा सकता। परमात्मा ने यजुर्वेद ४०/१७ में अपने आपको ब्रह्म कहा है "अहं ओम् खं ब्रह्म" अर्थात् मैं ओ३म् नाम वाला सर्वव्यापक ब्रह्म (यानि सब से बड़ा) हूँ। इस लिये परमात्मा बड़ा है। क्यों बड़ा है? अपने गुण, कर्म, स्वभाव से वह अद्वितीय है। अद्वैत या अद्वितीय के अर्थ ही यह हैं कि उस जैसा महान् यानि बड़ा कोई नहीं। यह सब ऐश्वर्य उसका है। वह हम को देता है। देने वाला बड़ा होता है, लेने वाला छोटा। इसलिये लेने वाले जीव उससे छोटे हैं। अपने लघुत्व को स्वीकार करो और उसके बड़ापन को। यदि हमारी आत्मा (जीवात्मा) ब्रह्म ही है तो फिर ब्रह्म को ब्रह्म की उपासना करने के क्या अर्थ? उपासना दो के बिना हो ही नहीं सकती। उप=समीप और आसन=बैठना=समीप बैठना। समीप बैठना दो के बिना नहीं हो सकता।

एक उपासक होता है जो उपासना करता है और दूसरा उपास्य देव जिसकी उपासना उपासक करता है। उपासक छोटा होता है और उपास्य देव बड़ा होता है। जीव उपासक है और परमात्मा (ब्रह्म) उपास्य देव है। ब्राह्म मुहूर्त्त में ब्रह्म की उपासना इसलिये बताई गई कि तुम (जीव) परमात्मा को अपने से बड़ा यानि ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करो ताकि तुम्हारे में यह अति-अहं-भाव (अभिमान) कभी पैदा ही न हो कि तुम्हारे जैसा कोई नहीं, तुम ही सृष्टि के रचयिता ब्रह्म हो। जिस भावना को लेकर जीव ने ब्राह्म मुहूर्त्त में ब्रह्म की उपासना करनी थी वह जीव अति-अहं-भाव से खुद ही ब्रह्म बन बैठा। अब ब्राह्म मुहूर्त्त में ब्रह्म की उपासना ब्रह्म करे? कैसी विचित्र बात है! "जब जीव ही खुद ब्रह्म बन बैठा, फिर ब्रह्म

का प्रत्यक्ष कौन करे ?"

यदि उपासना से लाभ उठाना है तो अपने आपको छोटा स्वीकार करके उसको बड़ा मान कर उसकी उपासना करो। इस से तुम्हें उसका सहारा मिलेगा, तुम निर्भय हो जाओगे, अपने आपको सुरक्षित समझोगे, अभिमान न रहेगा और अन्त में आपको अपने लक्ष्य (मोक्षानन्द) की प्राप्ति हो जायेगी।

ऐ जिज्ञासु! तुम हमेशा सावधान रहना कि कहीं फिर तुम्हारे अन्दर अति-अहं-भाव (Ego) की भावना जाग न पड़े और तुम अपने आपको फिर अहं ब्रह्मास्मि कहना शुरु कर दो।

हिरण्यकशिपु के अन्दर इसी अति-अहं-भाव की भावना पैदा हो गई थी और वह अपने आपको परमात्मा (ब्रह्म) समझने लगा। फलस्वरूप जो दण्ड परमात्मा ने उसको दिया वह सब जानते हैं। इसलिये आप भी कभी ऐसी भूल न करना कि आपका भी वही हशर हो जो हिरण्यकशिपु का हुआ।

जिज्ञासु:—तत्त्व ज्ञान (विवेक) ने मेरे अति-अहं-भाव (अहं ब्रह्मास्मि की भावना) को समाप्त कर दिया है। अब मैं ऐसी भूल कभी नहीं करूंगा। प्रतिदिन ब्राह्म मुहूर्त के समय अपने आपको स्तोता,प्रार्थी,और उपासक और ब्रह्म (परमात्मा) को स्तुत्य, प्रार्थनीय और उपास्य समझकर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना बड़ी नम्रता से किया करूंगा और उस से मोक्षानन्द की भिक्षा मांगा करूंगा।

पूज्य स्वामी जी! महात्मा और जिज्ञासु के वार्तालाप से यह तो स्पष्टतया सिद्ध हो गया कि प्राकृतिक जड़ शरीर से चेतन आत्मा भिन्न है जो शरीर का मालिक है और शरीर में निवास करता है। आपके कथनानुसार माल से मालिक अलग होता है। देखो पृष्ठ १० (सरल वेदांत) जहां

आपने लिखा है "माल से मालिक अलग, यह बात सबको मान्य है।" जब माल और मालिक दो भिन्न-भिन्न अलग पदार्थ हैं तो जड़ शरीर हुआ माल और इसमें निवास करने वाला चेतन आत्मा हुआ मालिक। यह भी भिन्न-भिन्न दो पदार्थ हुए। मालिक माल नहीं होता और माल मालिक नहीं होता। आपके कथन से यह बात सिद्ध हो गई कि जड़ शरीर और चेतन आत्मा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। तो अद्वैतवाद कहां रहा। दो पदार्थ तो आपने स्वयं मान लिये हैं—एक जड़ (अनात्म) और एक चेतन (आत्म)। अब तत्त्व-ज्ञान (विवेक) से यह भी ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि चेतन आत्मा भी दो हैं। जब जिज्ञासु के शरीर में निवास करने वाले चेतन आत्मा से पूछा गया कि क्या तू आंखों के बगैर देख सकता है, कानों के बगैर सुन सकता है, यदि नहीं तो क्या यह आंख और कान तूने अपने लिये बनाये हैं? तो उसने उत्तर में कहा कि मैं आंख के बगैर देख नहीं सकता और कान के बगैर सुन नहीं सकता और न ही मैं इनको बना सकता हूँ। इससे सिद्ध हो गया कि जब यह चेतन आत्मा जो आंखों का और कानों का मोहताज है और अपने लिये यह आंख-कान बना भी नहीं सकता तो यह मानना पड़ता है कि जरूर कोई इससे भिन्न और इससे महान् कोई और चेतन आत्मा है जो आंखों और कानों का मोहताज नहीं। विना आंखों के इसको आंखें और कान बनाकर देता है। वह महान् आत्मा है परम-आत्मा और यह शरीर में निवास करने वाला चेतन आत्मा जीवात्मा है। जिज्ञासु और महात्मा की वार्तालाप से भी यह सिद्ध होता है कि जिज्ञासु के शरीर में निवास करने वाले चेतन आत्मा से भिन्न एक और महान् चेतन आत्मा है जो दुःखों को दूर करने वाला और आनन्द का दाता है।

देखो पृष्ठ ७ (सरल वेदांत) जहां जिज्ञासु कहता है कि "मैं सर्वदु:खों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिए आत्मा का दर्शन करना चाहता हूँ। प्रश्न होता है यह दु:खों की निवृत्ति और परमानन्द कौन चाहता है? यह जिज्ञासु का शरीर नहीं हो सकता क्योंकि वह तो जड़ है। दु:ख और आनन्द का सम्बन्ध चेतन से होता है। इसलिये यह जिज्ञासु का चेतन आत्मा है जो दु:खी है और दु:खों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिये आत्मा का दर्शन चाहता है। यदि जिज्ञासु का आत्मा स्वयं ही दु:खों से रहित और आनन्द-स्वरूप होता तो दु:खों की निवृत्ति और आनन्द की इच्छा न करता। इससे सिद्ध होता है कि वह दु:खी और निरानन्द है और जिस आत्मा से अपने दु:खों की निवृत्ति और परमानन्द चाहता है वह जरूर इससे भिन्न एक महान्, आत्मा है जो इसके दु:खों की निवृत्ति करके इसको आनन्द दे सकता है। यह भुव: (दु:ख नाशक) और स्व: (आनन्द दाता) परमात्मा है और दु:खों में ग्रस्त और आनन्द का भिखारी है जिज्ञासु के शरीर में निवास करने वाला आत्मा (जीवात्मा)।

अब तीन पदार्थ सिद्ध हो गये। एक माया (प्रकृति) से बना हुआ शरीर और दो चेतन आत्मा—एक जीवात्मा और एक परम-आत्मा। यह है वेद का युक्ति-युक्त त्रैतवाद।

यह तीन पदार्थों माया (प्रकृति),जीवात्मा और परमात्मा की चूंकि भिन्न २ सत्ता है इसलिये यह नित्य हैं। इनका अभाव से भाव नहीं हुआ और न इनके भाव का अभाव हो सकता है। इसलिये यह नित्य हैं। नफी से हस्ती (भाव) और हस्ती से नफी (अभाव) नहीं होता। जिस चीज की सत्ता याने अस्तित्व होता है वह चीज नित्य होती है।

अब इन तीन पदार्थों का अध्ययन तत्त्वज्ञान के प्रकाश में

करते हैं ताकि देखें कि इनसे क्या सिद्ध होता है।

(१) **शरीरः**—इसके अध्ययन से तीन पदार्थ स्पष्ट मालूम होते हैं। जिससे यह शरीर बना हुआ है इसका उपादान कारण स्पष्ट नजर आ रहा है। इसको माया या प्रकृति कहते हैं। और वैज्ञानिक इसको Matter कहते हैं। यह जड़ और गति-शून्य है। इस शरीर की अद्भुत बनावट से मालूम होता है कि इस पर किसी पूर्ण कारीगर का हाथ लगा हुआ है। इसकी कारीगरी में वह कारीगर नजर आ रहा है। इन आंखों से नहीं, विवेक के चक्षु से नजर आता है। वह है ज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिमान्, पूर्ण कारीगर, चैतन्य परमात्मा (ब्रह्म)। यह शरीर बनाता है मगर शरीर का मोहताज नहीं। विना आंखों के देखता है, विना कानों के सुनता है। लेकिन इस शरीर में एक और चेतन आत्मा भी निवास करता है जो इस शरीर का मोहताज है, इस शरीर से काम करने वाला है जो विना आंखों के देख नहीं सकता, विना कानों के सुन नहीं सकता, शरीर के संयोग से दुःख सुख भोगता है, जीवित शरीर में होता है मृतक शरीर में नहीं होता। यह है परमात्मा से भिन्न चेतन सत्ता वाला जीवात्मा।

(२) **जगत्ः**—इसका प्रत्येक पदार्थ बना हुआ मालूम होता है। इसका उपादान कारण तो प्रत्यक्ष नजर आ रहा है। वैज्ञानिक इसको Matter कहते हैं और हमारे शास्त्र इसको माया (प्रकृति) कहते हैं। अब देखना है कि यह जगत् के पदार्थ इससे कैसे बन गये हैं। हम इसमें से एक बनी हुई चीज की बनावट को देखते हैं। हमारे सामने एक बना हुआ मकान है। हमने कुछ मजदूरों को आदेश दिया कि इस तमाम मकान को तोड़ दो। उन्होंने कुछ दिनों में तोड़ दिया। अब मकान नजरों से छुप गया। उसकी जगह मिट्टी, लकड़ी, लोहा, ईंट,

सिमेंट के ढेर लगे हुए है। पूछा मकान किधर है ? मजदूरों ने कहा कि मकान इन ढेरों में छुप गया है। फिर हमने आदेश दिया कि इन सब चीजों का चूरा कर दो और इनको मिला दो। उन्होंने चूरा करके सबको मिला दिया। अब न लकड़ी, न लोहा, न मिट्टी, न ईंटें, न सिमेंट नजर आता है। सब चीजों का मिला-जुला एक चूरे का ढेर पड़ा हुआ है। अब मकान उस चूरे के ढेर में छिपा हुआ है। फिर आदेश दिया कि इस तमाम चूरे को तीन चार ट्रकों में डालकर दिल्ली से मथुरा तक रास्ते में इधर-उधर बखेरते जाओ। जब सब बखेर दिया गया तो प्रश्न हुआ कि अब मकान किधर है ? उत्तर मिला कि अब मकान उन छोटे जर्रों में छिप गया है जो जर्रे दिल्ली से मथुरा के रास्ते में बिखरे हुए पड़े हैं और नजर से गायब हैं। जिन जर्रों से मिलकर यह मकान बना हुआ था हमने उन जर्रों को गायब कर दिया।

अब १०० कालीन लो। इनको अच्छी तरफ साफ कर लो कि इनमें एक जर्रा भी मिट्टी का नजर न आये। अब चारों ओर से इनको पकड़ कर डंडों से मारो तो इनमें कुछ मिट्टी इकट्ठी हो जायगी। अब इस मिट्टी में कुछ पानी मिलाकर ईंटें बना लो और फिर अग्नि में डालकर पक्की ईंटें बना लो। इस तरह १००ईंटें तैयार हो जायेंगी। इनकी एक छोटी सी दीवार बना लो। अब प्रश्न होता है कि यह ईंटों की दीवार कहां से आ गई ? उत्तर मिला—कालीन से। यह कालीन में उन जर्रों में छिपी हुई थी जिन जर्रों को इकट्ठा करके हमने ईंटें बनाकर दीवार बना ली। देखा ! एक ओर तो हमने मकान को जर्रों में छिपा दिया और दूसरी ओर छिपे हुए जर्रों को कालीनों से निकाल कर उनकी ईंटें बनाकर दीवार बना ली। इससे यह परिणाम निकला कि छोटे-छोटे जर्रे जो आंखों से भी नजर

नहीं आते उनके मिलने से चीजें बनती हैं और उनके पृथक् होने से टूट जाती हैं। जब तक यह जर्रे मिलते नहीं, कोई भी चीज नहीं बन सकती। सबसे छोटे जर्रे जिनका विभाग नहीं हो सकता यानि जिन के टुकड़े नहीं किये जा सकते उनको परमाणु कहते हैं। इन परमाणुओं के आपस में मिलने से ही जगत् की तमाम चीजें बनती हैं। अब प्रश्न होता है कि यह परमाणु आपस में मिलते क्यों हैं? इसका उत्तर यह हो सकता है कि इन में मिलने का गुण है इसलिये मिल जाते हैं। अब फिर प्रश्न होता है कि यह मिलने का गुण इनमें स्वाभाविक है या नैमित्तिक? यदि स्वाभाविक हो तो यह सदैव मिले रहेंगे पृथक् कभी न होंगे, क्योंकि स्वाभाविक गुण एक क्षण के लिये भी गुणी से पृथक् नहीं होता जैसे मिठास चीनी का स्वाभाविक गुण है यह मिठास चीनी से एक क्षण के लिये भी पृथक् नहीं हो सकती। चीनी हमेशा मीठी रहेगी। इसी तरह यदि मिलने का गुण परमाणुओं में स्वाभाविक है तो वह भी हमेशा मिले ही रहेंगे कभी पृथक् न होंगे। जो चीज जैसे बनी हुई है वैसे ही बनी रहेगी। उसको कोई तोड़ न सकेगा परन्तु हम तो चीजों को तोड़ कर उनके जर्रों को पृथक् कर सकते हैं। जैसे उपरोक्त मकान को हमने तोड़कर उसके जर्रे जर्रे कर दिये थे। इससे यह सिद्ध हुआ कि इनमें मिलने का गुण स्वाभाविक नहीं और न ही पृथक् होने का गुण स्वाभाविक है। यदि पृथक् होने का गुण स्वाभाविक होता तो परमाणु मिल ही न सकते और कोई चीज बन न सकती। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमाणुओं में न मिलने का गुण स्वाभाविक है और न पृथक् होने का, मगर यह मिलते भी हैं और पृथक् भी होते हैं तभी तो चीजें बनती हैं और टूटती भी हैं, सृष्टि की उत्पत्ति भी होती है और प्रलय भी। तो फिर वह कौन है जो इनको

अपनी शक्ति से मिलाकर जगत् और उसके पदार्थों को बनाता है और फिर उनको पृथक् २ करके प्रलय कर देता है ? हमको इस जड़ प्रकृति के परमाणुओं के समूह से भिन्न एक और चैतन्य, शक्तिमान् और ज्ञानवान् सत्ता को मानना पड़ता है जो अपने स्वाभाविक ज्ञान बल और क्रिया से इन परमाणुओं को मिलाकर जगत् की रचना करता है और फिर पृथक् करके प्रलय कर देता है। वह है ज्ञान स्वरूप, सर्व शक्तिमान्, चैतन्य, पूर्ण परमात्मा (ब्रह्म)।

दुनिया को विवेक की दृष्टि से देखने से हमारे सामने दो नित्य सत्ताएं आ गई— एक जड़ प्रकृति के परमाणुओं का समूह (जगत् का उपादान कारण) और एक सर्व शक्तिमान्, सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप, जगत् का रचयिता परमात्मा।

अब एक पत्थर का बुत लो और एक मनुष्य का बच्चा दोनों को पढ़ाना शुरु करदो। मनुष्य का बच्चा पढ़ जायेगा, मगर पत्थर का बुत न पढ़ेगा। यदि मनुष्य का बच्चा मर जाय तो वह भी न पढ़ेगा। प्रश्न होता है कि वह कौन है जो मनुष्य के बच्चे के जीवित शरीर में तो है और पढ़ सकता है, परन्तु बच्चे के मृतक शरीर और पत्थर के बुत में नहीं ? शरीर भी जड़ हैं और पत्थर का बुत भी जड़ है। जड़ को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। चेतन ही पढ़कर ज्ञान प्रांप्त कर सकता है। इसलिये बच्चे के जीवित शरीर में एक चेतन सत्ता माननी पड़ेगी। वह है चेतन आत्मा। यह चेतन आत्मा सृष्टि के रचयिता परमात्मा से भिन्न है क्योंकि इसको ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है, और वह ज्ञानस्वरूप है, यह एक शरीर में निवास करता है, वह तमाम ब्रह्माण्ड में निवास करता है, यह परिच्छिन्न (सीमायुक्त) है, वह अपरिच्छिन्न है, यह जन्म-मरण के बन्धन में हैं, वह इस बन्धन से रहित है, यह शरीर का मोहताज है इसके बगैर

कोई काम नहीं कर सकता, वह स्वतन्त्र है सब काम विना शरीरके करता है और शरीरों के बनाने वाला भी वही है,सृष्टि की रचना में इसका कोई दखल नहीं, वह सृष्टि का रचयिता है, इसको अल्पज्ञ चेतन (जीवात्मा) कहते हैं, उसको सर्वज्ञ चेतन परमात्मा (ब्रह्म) कहते हैं ।

इस तरह थोड़ीसी खोज से ही हमने तीन नित्य सत्ताएं मालूम कर लीं — एक जगत् का उपादान कारण प्रकृति, दूसरा शरीरों में निवास करने वाला जीवात्मा और तीसरा तमाम ब्रह्मांड में निवास करने वाला, सबका आधार सृष्टि रचयिता परमात्मा (ब्रह्म) ।

(३) **परमात्मा (ब्रह्म)**:—अब देखना है कि ब्रह्म के गुणों से क्या सिद्ध होता है । उसके गुण तो अनेक हैं परन्तु हम थोड़े से गुणों पर ही विचार करेंगे । गुणों के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी वहुत आवश्यक है । वह यह कि परमात्मा अनादि अनन्त है तो उसके स्वाभाविक गुण भी अनादि अनन्त होंगे इस में किसी को शङ्का नहीं हो सकती । आओ अब उसके गुणों पर विचार करें ।

(१) **वह माता-पिता है**:—पति-पत्नी कभी माता-पिता नहीं कहला सकते जब तक उनके पुत्र न हों । जब परमात्मा को माता-पिता कहा गया है [त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता ऋ०८।९८।११] तो उसके पुत्र भी होने चाहियें । वह अनादि काल से माता-पिता है और अनन्त काल तक माता-पिता रहेगा । इस लिये उसके पुत्र भी अनादि अनन्त होंगे । यह अनेकों जीव उसके अनादि अनन्त पुत्र हैं । जब से ब्रह्म है उसके पुत्र भी साथ हैं और जब तक रहेगा पुत्र साथ ही रहेंगे । इस लिये यह कहना कि ब्रह्म से भिन्न और कुछ है ही नहीं ठीक मालूम नहीं होता । पिता और पुत्र दोनों की भिन्न-भिन्न

सत्ता होती है।

(२) **वह दयालु है:**—अनादि काल से। जब तक उस की दया का कोई पात्र न हो वह दयालु नहीं कहला सकता। दीन पर दया की जाती है वह कौन दीन हैं जो उसकी दया के पात्र हैं, जिन पर वह अनादि काल से दया करता चला आरहा है और अनन्त काल तक करता चला जायगा? वह हैं उन से भिन्न सत्ता वाले, दुःख सुख भोगने वाले अनादि अनंत चेतन, जीव जो अनादि काल से अनंत काल तक ब्रह्म के साथ ही रहते हैं।

(३) **वह न्यायकारी है:**—अनादि काल से। जब तक कोई दोषी पापी न हों जिनके कर्मों का वह अनादि काल से न्याय करता चला आ रहा है और अनन्त काल तक करता चला जायगा तब तक वह अनादि अनन्त न्यायकारी नहीं कहला सकता। वह कौन हैं? वह हैं अनेक जीव।

(४) **वह कर्माध्यक्ष है:**—अनादि काल से। किस का? चेतन जीवों का।

(५) **वह अद्वितीय अनुपम है:**—अनादि काल से। जब तक ब्रह्म से अतिरिक्त और ब्रह्म से छोटे (गुण, कर्म, स्वभाव की तुलना से) पदार्थ अनादि काल से अनन्त काल तक रहने वाले न हों वह अद्वितीय,अनुपम नहीं कहला सकता। वह पदार्थ कौन हैं? वह हैं अनेक जीव और प्रकृति से बने हुए अनेकों जड़ पदार्थ। उनकी तुलना में उसको अद्वितीय, अनुपम कहा गया है।

यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ न हो तो ब्रह्म को अद्वितीय अनुपम कहना एक मखौल (हंसी) की बात हो जायेगी। जैसे किसी पाठशाला की एक क्लास में केवल एक ही विद्यार्थी

हो और दूसरी क्लासों के विद्यार्थी उसको कहें कि तू तो अपनी क्लास में एक अनुपम विद्यार्थी है तो यह उसके साथ मखौल करना होगा। यदि ब्रह्म से भिन्न उससे छोटे पदार्थ प्रकृति और जीव मान लिये जाते तो ब्रह्म एक हास्यास्पद न बन जाता।

(६) **वह निराकार है:**—यदि साकार पदार्थ न होते तो ब्रह्म को निराकार कहना सार्थक न होता।

(७) **अजन्मा है:**—यदि जन्म-मरण के बन्धन में आने वाले कोई न होते तो ब्रह्म अजन्मा न कहलाता।

(८) **उसको आत्मदा बलदा कहा है:**—वह किस को आत्म ज्ञान और बल देता है? वह अनादि काल से अज्ञानी और अल्प शक्ति वाले जीवों को आत्मज्ञान और बल दे रहा है।

(९) **वह सर्वाधार है:**— किनका आधार है वह? समस्त ब्रह्मांड और जीवों का वह आधार है अनादि काल से।

(१०) **सर्वव्यापक है:**—व्याप्य के विना व्यापक नहीं कहला सकता। प्रकृति और जीव उसके व्याप्य हैं अनादि काल से।

(११) **सर्वान्तर्यामी है:**—तमाम जीवों की अन्तर्यामी आत्मा है।

(१२) **वह ईश्वर है:**—इसके अर्थ हैं वह तमाम ऐश्वर्य का मालिक है। कब से? अनादि काल से और अनन्त काल तक रहेगा। इस मालिक का माल क्या है? यह प्रकृति और उसके बने हुए पदार्थ उसका माल है। वह अनादि अनन्त मालिक है इसलिये उसका माल प्रकृति भी अनादि काल से है

और अनन्त काल तक रहेगी। इसीलिये वैज्ञानिक कहते हैं Matter is indestructable याने प्रकृति का नाश नहीं होता। जैसा कि आपने अपनी पुस्तक "सरल वेदान्त" के पृष्ठ १० पर लिखा है माल से मालिक अलग होता है उसके अनुसार चेतन ब्रह्म जो मालिक हैं और जड़-प्रकृति जो उसका माल है दोनों अलग-अलग हुए याने दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ता है। एक है जड़ तत्त्व और दूसरा है चैतन्य तत्त्व।

पूज्य स्वामी जी! इन उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हो गया है कि तीन अनादि सत्ताएं हैं। जीव और ब्रह्म एक नहीं, दो भिन्न-भिन्न अनादि चेतन सत्ताएं हैं और इन से भिन्न एक जड़ सत्ता प्रकृति की है।

आपने जीव को ब्रह्म सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण अपनी पुस्तक "सरल वेदांत' 'में दिये हैं अब उन पर विचार करते हैं:—

पृष्ठ २३ पर आप लिखते हैं "अयम् आत्मा ब्रह्म" (अथर्व वेद) अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है। स्वामी जी! यह मांडूक्य उपनिषद् का वाक्य है "सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म" (माण्डूक्य उ० २)

सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥

आत्मा दो हैं एक परमात्मा जो तमाम ब्रह्मांड में निवास करता है और एक जीवात्मा जो शरीर में निवास करता है। प्रकरणानुसार इस के अर्थ करने चाहियें। यहां उपनिषद् के पहले ऊपर के वाक्य में ओंकार (परमात्मा) की व्याख्या चली आ रही है, इसलिये प्रकरणानुसार इस का यह अर्थ होता है कि (सर्वं) सब (ह्येतत्) यह जो ओंकार है, वह ब्रह्म है (अयं) यह (आत्मा) सर्वव्यापक आत्मा ओंकार रूप (ब्रह्म) अर्थात् सब से बड़ा है। इस में जीवात्मा का प्रकरण नहीं। इसमें आत्मा शब्द परमात्मा के लिये आया है जीवात्मा के लिये नहीं क्योंकि ब्रह्म याने बड़ा परमात्मा ही है जीवात्मा नहीं। जीव

तो ब्रह्म के अंश के बराबर है। इसलिये ("अयं आत्मा ब्रह्म") के अर्थ हैं "यह जो परमात्मा है सबसे बड़ा है।" अतः इस वाक्य से यह सिद्ध नहीं होता कि जीव ब्रह्म है।

यह तो एक योगी का आत्मा समाधि की दशा में अपने भीतर देखता हुआ अपने अन्तर्यामी आत्मा (परमात्मा) के आनन्द को अनुभव करके कहता है कि यह जो मुझ में व्यापक मेरा अन्तर्यामी आत्मा है यह ब्रह्म ही है याने सब से बड़ा है।

पृष्ठ २३ पर आप लिखते हैं "उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं कि "तत्त्वमसि" अर्थात् वह (व्यापक ब्रह्म चैतन्य) तू (साक्षी चेतन) है।" यह छान्दोग्य उपनिषद् ६।८। ६। ७ का वाक्य है:—

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।"

अद्वैतवादी इसका अर्थ यह करते हैं कि (तत्) वह ब्रह्म (त्वं) तू (असि) है।

उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु से कहा हे पुत्र! यह अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा सब जगत् का अधिष्ठान है। यह सब सत्य है। जो सर्वात्मा है वह तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है।

यहां पर 'वह आत्मा तू है', इसका फलितार्थ यह होता है कि "तदन्तर्यामी तदधिष्ठानस्तदात्मकस्त्वमसि इति" जो सर्वात्मा है वह तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा है। सह-चार उपाधि से यह अर्थ सिद्ध होता है।

सहचार उपाधि के कुछ दृष्टान्तों से यह बात समझ में आ जाती है। दृष्टान्तः—हमने कहा ओ चारपाई! इधर आओ। चारपाई वाला आ गया। फिर कहा ओ तांगा इधर आओ। तांगे वाला आ गया। हमने उनसे पूछा तुम चारपाई हो या

चारपाई तुम्हारी है ? तुम तांगा हो या तांगा तुम्हारा है ? चारपाई वाले ने कहा कि मैं चारपाई नहीं चारपाई मेरी है। वह मेरी सहचारिणी है मेरे साथ रहने वाली है। इसलिये जब अपने सहचार उपाधि से मुझे चारपाई कह कर पुकारा तो मैं ही आ गया। वास्तव में मैं चारपाई नहीं, चारपाई मेरी है। सहचरण उपाधि के कारण मुझे चारपाई कह कर बुलाया गया। ऐसा ही उत्तर तांगे वाले ने दिया। हमने उनसे कहा कि 'तुम ठीक कहते हो तुम चारपाई नहीं चारपाई तुम्हारी है' तुम तांगा नहीं टांगा तुम्हारा है। तुम्हारे सहचरण के कारण, साथ रहने के कारण, सहचार उपाधि के कारण हमने तुमको चारपाई और तांगा के नामों से पुकारा। मोटर तेज चल रही है। रफ्तार तेज है मोटर की, और हम कहते हैं ड्राइवर तेरी रफ्तार तेज है। यह हम कहते हैं सहचार उपाधि के कारण क्योंकि ड्राइवर और मोटर दोनों सहचारी हैं। ड्राइवर मोटर नहीं, मोटर ड्राइवर की है जो तेज चल रही है।

ठीक इसी प्रकार सहचार उपाधि से ही उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु से यह कहा होगा "तत्त्वमसि" "वह तू है"। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि वह सर्वभूतान्तरात्मा तेरी अन्तरात्मा है। तू वह आत्मा नहीं। तू उससे युक्त है, तू सदैव उसके साथ रहता है।

यदि सहचार उपाधि न मानी जावे तो उपनिषदों में परस्पर विरोध हो जावेगा।

शतपथ ब्रा० १४। ५। ३० और बृ० उ० ३। ७। २२ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि वह आत्मा (परमात्मा) तेरा अन्तर्यामी आत्मा है। वहां यह नहीं लिखा हुआ कि तू वह आत्मा (परमात्मा) है। देखो शतपथ ब्रा० जहां लिखा है:—

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद

यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा-न्तर्याम्यमृतः ।" शतपथ ब्रा० १४। ५। ३०

ऐसा ही श्लोक बृ० उ० में लिखा हुआ है। वहां आत्मा के स्थान में विज्ञान शब्द आया हुआ है बाकी वैसा ही है।

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ बृ० उ० ३।७।२२

अर्थात्:—जो (परमात्मा) जीवात्मा में रहने वाला, जीवात्मा के भीतर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है और जो उसके भीतर रह कर जीवात्मा का नियमन करता है, वह (परमात्मा) तुम्हारा प्रष्टव्य अन्तर्यामी अमृत है।

इसका अर्थ बिलकुल स्पष्ट है कि वह (परमात्मा) तेरा अन्तर्यामी आत्मा है। इसलिये उद्दालक ऋषि ने जो उपदेश अपने पुत्र श्वेतकेतु को दिया कि "तत्त्वमसि" इसका तात्पर्य सहचार उपाधि से यही होता है कि "ऐ श्वेतकेतु जो (परमात्मा) सर्वभूतान्तरात्मा है (मुण्ड० उ० २।१।४) याने समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है, वह तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा है। यदि सहचार उपाधि न मान कर इस के अर्थ यह करोगे कि वह परमात्मा (ब्रह्म) तू है तो उद्दालक ऋषि के कथन और शतपथ ब्रा०, उपनिषदों, गीता और वेदों में परस्पर विरोध हो जावेगा।

अब एक प्रश्न होता है कि यदि "तत्त्वमसि" के वही अर्थ मान लिये जायें जो आपने किये हैं कि तत् (वह ब्रह्म) त्वं (तू) असि (है) याने श्वेतकेतु तू ब्रह्म है तो क्या इस अर्थ के अनुसार श्वेतकेतु सचमुच ब्रह्म था और आप उसको ब्रह्म

मानते हैं और क्या उद्दालक ऋषि भी उसको ब्रह्म मानते थे परन्तु उनके इस उपदेश से ही मालूम होता है कि वह श्वेतकेतु को ब्रह्म नहीं मानते थे। यदि मानते तो ब्रह्म को ऐसा उपदेश न देते कि तू ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म तो सर्वज्ञ है वह तो जानता है कि वह ब्रह्म है। ब्रह्म को यह उपदेश करना कि तू ब्रह्म है इसका मतलब यह होगा कि ब्रह्म अज्ञानी है। अज्ञान के कारण अपने आपको भूला हुआ है। ब्रह्म जो सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप है जिसको अज्ञान का अंधेरा छू तक नहीं सकता (तमसः परस्तात् [यजु० ३१।१८] वह अज्ञान के अन्धकार से परे है।) उसको अज्ञानी समझकर उसको उपदेश देकर समझाना उसका अपमान करना है। अद्वैतवाद से ब्रह्म का कितना अपमान हो रहा है। अपने मन्तव्य को सिद्ध करने के लिये अर्थों का अनर्थ करके ब्रह्म का अपमान किया जा रहा है। ऐसा अर्थ करते हुए यह न सोचा कि उद्दालक ऋषि का अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ ब्रह्म को कैसे उपदेश देकर समझा सकता है।

वास्तविक बात तो यह है कि वह उसको ब्रह्म समझकर नहीं अपितु अपना पुत्र समझकर उसको उपदेश देकर समझा रहे थे कि ऐ श्वेतकेतु (जीव) जो परमात्मा (ब्रह्म) सर्वभूतान्तरात्मा है याने समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है, जो तेरे में व्यापक है, तेरे अन्दर रहने वाला है, तेरे भीतर रहकर तेरा नियमन करता है पर तू उसे जानता नहीं, वही तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा है। सहचार उपाधि से यह अर्थ सिद्ध होता है। जब शतपथ ब्रा० में स्पष्ट लिखा है कि परमात्मा जीवात्मा की अन्तर्यामी आत्मा है तो फिर उद्दालक ऋषि अपने पुत्र को कैसे कह सकते हैं कि वह परमात्मा तू है ?

पूज्य स्वामी जी ! आप भी तो अपने उपदेशों में यही कहा करते हैं कि "आप सब ब्रह्म हैं।" क्या आप उनको

सचमुच ब्रह्म ही समझकर यह उपदेश देते हैं ? यदि वह ब्रह्म हैं तो उनको ऐसे उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं कि "तुम ब्रह्म हो" क्योंकि ब्रह्म तो जानता है कि वह ब्रह्म है, और यदि वह ब्रह्म नहीं हैं तो उनको ऐसा उपदेश देना निरर्थक है।

आपका उनको ऐसा उपदेश देना ही सिद्ध करता है कि आप उनको ब्रह्म नहीं समझते मगर फिर भी उनको कहते हो कि तुम ब्रह्म हो।

पूज्य स्वामी जी ! आशा है कि परमात्मा के दिये हुए तत्त्वज्ञान की रोशनी में आप इस निर्णय पर जरूर पहुंचे होंगे कि जड़ माया के शरीर से भिन्न सत्ता वाला जो शरीर का मालिक, शरीर में निवास करने वाला जो चैतन्य आत्मा है वह शरीर का मोहताज (आधीन) है। आंख के बगैर देख नहीं सकता, कान के बिना सुन नहीं सकता, हाथों के बगैर कर नहीं सकता, बुद्धि के बगैर ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, दुःख सुख भोगता है। ऐसे मोहताज दुःख सुख भोगने वाले चेतन आत्मा के लिये ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता कि—"तत्त्वमसि" (वह परमात्मा तू है)। परमात्मा तो है ही (परम+आत्मा) बड़ी आत्मा जो शरीर निवासी आत्मा की अपेक्षा अति महान् है, शरीर का मोहताज नहीं अपितु शरीरों को बनाकर शरीरों के मोहताज, शरीर निवासी आत्माओं को देता है। दुःखों से रहित, आनन्दस्वरूप, मुक्त स्वरूप और ज्ञान स्वरूप है।

पृष्ठ २३ पर आपने लिखा है "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् मैं (साक्षी चेतन) ब्रह्म (सर्वत्र व्यापक) चैतन्य तत्त्व हूं।

पूज्य स्वामी जी ! यह पाठ शतपथ ब्राह्मण कांड १४ प्रपाठक २ ब्राह्मण २ कंडिका १८ वाक्य २१ का है।

वहां लिखा है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ।

(श० ब्रा० १४ । २ । २ । १८ । २१)

इसमें ब्रह्म ने अपने आपके लिये "अहं ब्रह्मास्मि" कहा है कि मैं बड़ा हूं। यह शरीर में निवास करने वाला, दुःखों में ग्रस्त, जन्म-मरण के बंधन में बांधा हुआ, शरीर का मोहताज, आनन्द की खोज में भटकने वाला जीवात्मा अपने आपको 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं सबसे बड़ा हूँ) नहीं कह रहा। यह तो वह महान् आत्मा (परम–आत्मा) सृष्टि का रचयिता, अपने आपको ब्रह्म कह रहा है। और यह जो लिखा है (यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्) कि देवताओं मनुष्यों और ऋषियों में भी जो प्रबुद्ध हुआ अर्थात् ब्रह्म विद्या-रूप प्रकाश को जिसने प्राप्त किया, वह भी वही हो गया याने ब्रह्म हो गया। इसका अर्थ यह कभी नहीं हो सकता कि वह सर्व-व्यापक, सर्व शक्तिमान्, सर्वभूतान्तरात्मा, सृष्टि का रचयिता ब्रह्म हो गया। सर्वव्यापक, सर्व शक्तिमान्, सर्वभूतान्तरात्मा, सृष्टि का रचयिता, अनादि अनन्त ब्रह्म तो अनादि काल से है, वह न कभी हुआ है, न होता है, वह तो हमेशा से है। जो होता है वह सृष्टि का रचयिता ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि सर्वव्यापकता, सर्वात्मकता, सर्वशक्तिमत्ता और सृष्टि रचना का ज्ञान और सामर्थ्य जीव में स्वाभाविक नहीं होते। हां ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से प्रबुद्ध (ज्ञानी) होकर, योग-साधन से मोक्ष प्राप्त करके मोक्ष में ब्रह्मानन्द को प्राप्त करके, सच्चित् से सच्चिदानन्द होकर दूसरे जीवों की अपेक्षा ब्रह्म याने बड़ा तो हो सकता है परन्तु सृष्टि का रचयिता ब्रह्म कभी

नहीं हो सकता जैसा कि वेदान्त दर्शन ४-४-१७ में स्पष्ट लिखा है कि 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।" याने जगत् की रचना आदि व्यापार को छोड़कर और बातों में ही मुक्त आत्माओं की सामर्थ्य है क्योंकि प्रकरण से यही सिद्ध होता है। और जगत् की रचना आदि व्यापार से इनका कोई निकट सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है।

वेद शास्त्रों में जीव को कहीं भी सृष्टि का रचयिता ब्रह्म नहीं कहा गया और यह ब्रह्म ने ही अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूं) कहा है। ब्रह्म सर्वज्ञ है उसको मालूम था कि यह जीवात्मा कहीं अज्ञान के कारण अति अहं-भाव से अपने आपको सृष्टि का रचयिता ब्रह्म ही न कहने लग जाये जैसा कि हिरण्यकशिपु अपने आपको सृष्टि रचयिता परमात्मा (ब्रह्म) कहने लग गया था। इसीलिये परमात्मा ने यजुर्वेद ४०। १७ में अपना परिचय देते हुए स्पष्ट लिख दिया कि—

"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ।"

अर्थात्—"जो पुरुष सूर्य में भी व्यापक है वह पुरुष ओ३म् नाम वाला (खं) सर्वत्र व्यापक और (ब्रह्म) सबसे बड़ा मैं हूँ।" यह परमात्मा की निज सम्बन्ध में उक्ति है। उसने इसमें स्पष्ट कर दिया है कि मैं ओ३म् नाम वाला सर्वत्र व्यापक सबसे बड़ा हूँ बाकी सब जीव मेरे से छोटे हैं, और मैं सबमें व्यापक हूं, सब मेरे व्याप्य हैं।

ब्रह्म ने तो अपने आपको ब्रह्म कहा ही है जीव ने भी ब्रह्म को ही ब्रह्म कहा है अपने आपको नहीं। देखो तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथमावल्ली प्रथमोऽनुवाकः। जीव कहता है "नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।" अर्थात्—ब्रह्म को नमस्कार हो, (नमस्ते वायो) हे सर्वाधार ब्रह्म आपको नमस्कार हो (त्वम् एव) आप ही

(प्रत्यक्षं ब्रह्म) प्रत्यक्ष ब्रह्म (असि) हैं। (त्वाम् एव) आप ही को (प्रत्यक्षं ब्रह्म) प्रत्यक्ष ब्रह्म (वदिष्यामि) कहता हूं।

अथर्ववेद कां० १०, सू० ८ मं० ६, मन्त्र १ में जीव परमात्मा को ब्रह्म कहकर नमस्कार करता है। लिखा है—

स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अर्थात्—ब्रह्म जो केवल आनन्द ही आनन्द है (आनन्द स्वरूप है) उस परम ब्रह्म परमात्मा को मेरा नमस्कार हो। **"बृहू उद्यमने"** (तुदादिः) **से ब्रह्म शब्द उद्यमी यत्नवान्** चेतन के लिये भी आता है। इस यौगिक प्रक्रिया से 'ब्रह्म शब्द यत्नवान् चेतन अर्थ में परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिये घटता है। इसलिये उद्यमी यत्नवान् चेतन जीव को ब्रह्म तो कह सकते हैं परन्तु सृष्टि का रचयिता ब्रह्म जीव को नहीं कह सकते क्योंकि सृष्टि की रचना करना अल्पज्ञ जीव की शक्ति से बाहर है। यह कार्य सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान्, सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप परब्रह्म चेतन परमात्मा का बताया गया है चेतन जीव का नहीं।

अद्वैतवादी ईशोपनिषद् १६ के "सोऽहमस्मि" ।

को भी महावाक्य मानते हैं और इसका अर्थ यह करते हैं कि (स) वह ब्रह्म (अहम् अस्मि) मैं हूँ। वह श्लोक यह है: —

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्रजापत्यव्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

अर्थ—(पूषन्) हे सर्व पोषक (एकर्षे) अद्वितीय (यम) न्यायकारी (सूर्य) प्रकाश स्वरूप (प्रजापत्य) प्रजापति (रश्मीन्) ताप (दुःखप्रद किरणों को) (व्यूह) दूर कर (तेजः) और सुखप्रद

तेज को (समूह) प्राप्त करा, (यत्) जो (ते) आपका (कल्याण-तमम्) अत्यन्त मंगलमय (रूपम्) रूप है (तत्) आपके इस रूप को (पश्यामि) देखता हूँ, इसलिये (यः) जो (असौ पुरुषः) वह पुरुष (ईश्वर) है (स) वह (अहम् अस्मि) मैं हूं।

इसका भावार्थ एक तो यह हो सकता है कि "जो पुरुष सबका पोषक (पालने वाला), अद्वितीय, न्यायकारी प्रकाश स्वरूप है, प्रजापति है, दुःखों को दूर करने वाला, सुख देने वाला है और जिसका अत्यन्त मंगलमयरूप दृष्टिगोचर हो रहा है (स पुरुषः) वह पुरुष याने परमात्मा (अहं अस्मि) मैं हूं।" यह परमात्मा ऐसा कह रहा है, जीव ऐसा कह ही नहीं सकता। इस श्लोक में जिस पुरुष की इन शब्दों में स्तुति, प्रार्थना की गई है और उसके कल्याणतम रूप का वर्णन किया गया है वह पुरुष ब्रह्म के सिवा और कौन हो सकता है।

यदि (सोऽहमस्मि) के अर्थ यह करो कि जीव कह रहा है कि वह ब्रह्म मैं हूं तो यह उस अवस्था में कह सकता है कि जब ब्रह्म की उपासना करते-करते उसमें भी ब्रह्म जैसे उत्कृष्ट गुण उत्पन्न हो जाते हैं और वह सच्चित् से सच्चिदानन्द ब्रह्म हो जाता है। सच्चित् जीव से सच्चिदानन्द ब्रह्म बनने के साधन भी इस श्लोक में दिये हुए हैं :—

पहला साधनः—जो गुण ब्रह्म के, इस मन्त्र में दिये हुए हैं उनको अपने में धारण करना। वे गुण हैं:—

पूषन्ः—परमात्मा की तरह बड़े प्रेम से दीन दुःखियों की पालना करे।

एकर्षिः—अपने उत्कृष्ट गुण, कर्म, स्वभाव से दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा अद्वितीय बनने की कोशिश करे।

यमः—न्याय्य पथ पर चले। अन्याय अत्याचार से दूर रहे।

सूर्यः—वेद के सत्य ज्ञान से स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों के हृदयों को भी प्रकाशित करे।

प्रजापतिः—प्रजापति की तरह सबकी रक्षा करे।

दूसरा साधनः—यम-नियम के अभ्यास से दुःख से रहित और सुख से भरपूर हृदय वाला बनने का यत्न करे।

तीसरा साधनः—ब्रह्म से आनन्द की प्राप्ति की इच्छा करने वाले ब्रह्म के भक्त और प्रेमी का हृदय प्रेम से इतना भरपूर होना चाहिये कि प्रेम के आवेश में होते हुए उसे अपनी सुध-बुध न रहे और केवल ध्येय (ब्रह्म) ही उसके लक्ष्य में रह जावे। याने प्रेमी अपने प्रियतम के प्रेम में इतना लवलीन हो जावे कि उसे अपनी सुध-बुध बाकी न रहे। यह अभेद ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है। यही ब्रह्म विद्या का अन्तिम पाठ है जिसमें जीव अपनी सत्ता कायम रखते हुए भी उससे बेसुध सा रहता है और ध्येय (ब्रह्म) के सिवा कुछ भी उसकी स्मृति, ध्यान या अनुभव का विषय नहीं रह जाता।

बे खुदी छा जाय ऐसी, दिल से मिट जाये खुदी।
उनके मिलने का तरीका अपने खो जाने में है॥

याद में उनकी ऐसे महव हुए।
अपनी सुध-बुध न रही कुछ बाकी॥

इसी अवस्था के प्राप्त कर लेने पर योगी का नाम जीवन मुक्त हो जाता है और शरीर छूटने पर विदेह मुक्त हो जाता है और ब्रह्मके आनन्द को प्राप्तकरके सत्‌चितसे सत्-चित् आनन्द हो जाता है। जब यह जीव माया के बने हुए शरीर से अति मोह के कारण इसमें लिप्त हो जाता है तो अपने आपको प्रकृत्ति का शरीर ही समझने लग जाता है उसको अपने से अभिन्न समझता है। इसी प्रकार जब योगाभ्यास से ब्रह्म में इतना

लवलीन हो जाता है, ब्रह्म के रंग में इतना रंग जाता है कि वह सच्चित् से सच्चिदानन्द हो जाता है और उसे परमात्मा अपने से भिन्न अनुभव नहीं होता। तो वह अपने आपको अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) कहने लग जाता है। यह सच्चिदा-नन्द ब्रह्म तो हो जाता है (ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करके) मगर सृष्टि का रचयिता, सर्वव्याक, सर्व शक्तिमान् ब्रह्म नहीं हो सकता। और सच्चिदानन्द भी सादि सच्चिदानन्द होता है क्योंकि यह ब्रह्म की उपासना से होता है— है नहीं। परन्तु अनादि सच्चिदानन्द तो परमात्मा ही है जो अनादि काल से सच्चिदानन्द चला आ रहा है। यह सादि और अनादि का भेद भी बना रहता है और इसकी सत्ता भी ब्रह्म से भिन्न कायम रहती है। जैसे लोहा, अग्नि में पड़कर अग्निरूप हो जाता है। यह अग्नि की तरह लाल और गरम हो जाता है। उस वक्त इसको अग्नि भी कह सकते हैं मगर फिर भी इसकी सत्ता अग्नि से भिन्न ही रहती है। अग्नि से बाहर आने पर फिर लोहा का लोहा हो जाता है। इसी तरह जीव मोक्ष काल में जब तक ब्रह्म अग्नि में पड़ा रहता है ब्रह्म के आनन्द से ब्रह्म की तरह आनन्दित रहता है और अपने आपको सच्चिदानन्द ब्रह्म समझता है। मोक्ष काल की समाप्ति पर फिर सच्चित् जीव होकर मनुष्य शरीर में आ जाता है।

इस मन्त्र के मुख्यार्थ न लेकर गौण अर्थ करने से ही इस का तात्पर्य समझ में आ सकता है, वह यह कि परमात्मा की उपासना और प्रार्थना से जीव जब ब्रह्म के उत्कृष्ट गुणों को जो इस मन्त्र में वर्णित हैं अपने में धारण कर लेता है तो कहता है "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् मैं ब्रह्म में स्थित हो गया हूं। मुझमें उत्कृष्टता आ गई है।

यदि इस मन्त्र में "अहं ब्रह्मास्मि" के मुख्यार्थ लिये जायें

कि मैं (जीव) ब्रह्म हूं तो यह भाव यहां सिद्ध नहीं होता क्योंकि इस मन्त्र के पहले भाग में जो ब्रह्म की स्तुति, प्रार्थना और उपासना कर रहा है वही स्तोता, प्रार्थी,उपासक इस मन्त्र के अन्त में अपने आपको ब्रह्म कह रहा हैं। स्तुति,प्रार्थना,उपासना करने वाला कभी अपने आपको ब्रह्म नहीं कह सकता। स्तुति, प्रार्थना, उपासना हमेशा अपने से बड़े की की जाती है। इसलिये जो उपासना करता है वह जीव अपने आपको ब्रह्म नहीं कह सकता। इसलिये इस मन्त्र में गौण अर्थ का ही आश्रय लेकर अर्थ करना होगा और वह अर्थ वही हो सकते हैं जो ऊपर किये गये हैं।

पृष्ठ २३ पर आप लिखते हैं "प्रज्ञानं ब्रह्म" अर्थात् यह चेतन ज्योति ब्रह्म है। यह चेतन आत्मा ही सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा है।" इसका अर्थ यह तो ठीक हो सकता है कि सच्चिदानन्द स्वरूप चेतन ज्योति परमात्मा है परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि जीवात्मा परमात्मा है।

इसी सम्बन्ध में आपने एक शेर लिखा है:—

"जो तू ढूँढै आपको सो तू आपैं आप।
आप भुलानो आप तैं बन्ध्यों आप तैं आप॥"

अर्थात् 'जिस ब्रह्म तत्त्व की खोज में तू है वही ब्रह्म तू (साक्षी चेतन) है।"

पूज्य स्वामी जी! यह कौन किसको उपदेश कर रहा है? उपदेश देने वाला ज्ञानी है और जिसको उपदेश दे रहा है वह बड़ा अज्ञानी है क्योंकि वह खुद ब्रह्म तत्त्व होते हुए ब्रह्म की खोज कर रहा है। स्वामी जी! क्या सर्वज्ञ ब्रह्म भी ब्रह्म की खोज करता है? क्या वह अज्ञानी है? ब्रह्म के लिये ऐसा शेर लिखना सर्वज्ञ ,ज्ञान स्वरूप ब्रह्म का अपमान करना है। मालूम

होता है कि शेर लिखने वाला ही अज्ञानी है जो यह समझता है कि सर्वज्ञ ब्रह्म अपने आपको भूलकर अपने आपको ढूंढ रहा है।

आपने गुरु नानक साहब का एक शब्द लिखा है:—

"सो प्रभु दूर नहीं, प्रभु तू है।" सहचार उपाधि से इसका अर्थ होगा "प्रभु तेरे से दूर नहीं वह तेरे अन्दर है, तेरा अन्तर्यामी आत्मा है।" यदि मुख्यार्थ करोगे तो यह होगा : —

"ऐ अपने आपको भूले हुए अज्ञानी प्रभु! प्रभु तेरे से दूर नहीं, प्रभु तू ही है।" ऐसा अर्थ करना सर्वज्ञ प्रभु का अपमान करना है।

फिर आप पृष्ठ २४ पर लिखते हैं—"जैसे जल और लहर में भेद नहीं उसी प्रकार ब्रह्म में और तुझ (जीव) में भेद नहीं।"

पूज्य स्वामी जी! इस सम्बन्ध में दो बातों पर विचार करें (१) विना वायु के जोर से चलने के समुद्र के जल में लहरें पैदा नहीं हो सकतीं। यदि जीवों को ब्रह्म रूपी समुद्र की लहरें माना जाये तो फिर ब्रह्म से अतिरिक्त किसी वायुरूपी शक्ति को मानना पड़ेगा जो गति में न आने वाले समुद्ररूपी ब्रह्म को गति देकर उसमें जीव रूपी लहरें पैदा कर देती है। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त किसी ऐसी शक्ति को मानोगे तो अद्वैतवाद समाप्त हो जायेगा। यदि नहीं मानोगे तो जीव रूपी लहरें पैदा ही नहीं हो सकतीं।

यदि कहो कि ब्रह्म में स्वयं ही गति पैदा हो जाती है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म गति में नहीं आता। वह गतिरहित है। (तन्नैजति। वह गति में नहीं आता। ईश उ० ५) विना गति में आये लहर पैदा ही नहीं हो सकती। और लहरें हमेशा भौतिक सीमाबद्ध समुद्र में पैदा होती हैं। अभौतिक

असीम गतिरहित ब्रह्मरूपी समुद्र में लहरें पैदा हो ही नहीं सकतीं। यदि पैदा हो भी जायें तो उठ कर ब्रह्म से बाहर कहां जायेंगी ?

(२) लहर के पानी में और समुद्र के पानी के गुणों में कोई भेद नहीं होता। परन्तु जीव रूपी लहरों और ब्रह्मरूपी समुद्र के गुणों में भेद होता है।

इन बातों पर विचार करने से जीव का ब्रह्म होना किसी तरह सिद्ध नहीं होता।

अब तक जिन बातों पर तत्त्वज्ञान के प्रकाश में ऊपर विचार किया गया है उनसे दो तत्त्व सिद्ध होते हैं: --एक "जड़-तत्त्व" और दूसरा "चैतन्य तत्त्व"। चैतन्य तत्त्व गुण कर्म और स्वभाव से दो प्रकार के हैं---एक लघु दूसरा अति महान्। लघु चेतन को जीवात्मा कहते हैं--जो जड़ शरीर में निवास करता है, शरीर का मालिक है, विना शरीर के कुछ काम नहीं कर सकता, परिच्छिन्न, अल्प शक्ति और अल्प ज्ञान वाला, नैमित्तिक ज्ञान वाला, अपनी अल्पज्ञता के कारण असफलता को प्राप्त होकर दुःखों को भोगने वाला, जन्म-मरण के बन्धन में बान्धा हुआ अपने कर्मों के कारण नाना प्रकार की योनियों में भटकने वाला, आनन्द का भिखारी (आपके शब्दों में आनन्द का मजनूं) आनन्द के भण्डार परमात्मा (आपके शब्दों में लैला) की खोज में लगा रहता है।

महान् चेतन को परमात्मा (ब्रह्म) कहते हैं जो ब्रह्मांड का रचयिता, ब्रह्माण्ड का निमित्त करण, ब्रह्माण्ड का मालिक, तमाम ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर उसमें निवास करने वाला, अपरिच्छिन्न (असीम) विना शरीर के तमाम ब्रह्माण्ड और शरीरों के बनाने वाला, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया वाला, अपनी सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता,

सर्वात्मिता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों से सदैव आनन्द में रहने वाला, जन्म-मरण के बन्धन से रहित, मुक्तस्वरूप जीवात्मा के कर्मों का कर्माध्यक्ष न्यायकर्त्ता कर्मफल दाता और योग्य जीवों को जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करके मोक्ष काल में (वह स्वाभाविक दयालु) उनको अपने आनन्द से आनन्दित करने वाला है।

जड़ तत्त्व को माया या प्रकृति कहते हैं जो ब्रह्माण्ड का उपादान कारण है जिससे ब्रह्मांड के तमाम पदार्थ और जीवों के जड़ शरीर बने हुए हैं। यह गति, ज्ञान और आनन्द-शून्य है। यह सत्, रज और तम गुण वाले परमाणुओं का समूह है। यही परमात्मा का ऐश्वर्य या खजाना है जिस से वह अनेक प्रकार के पदार्थों की रचना करता है।

यह तीन सत्ताएं:—एक जड़ प्रकृति, एक लघु चेतन सत्ता जीवात्मा और एक महान् चेतन सत्ता परमात्मा (ब्रह्म) अनादि हैं याने अनादिकाल से चली आ रही हैं और अनंतकाल तक रहेंगी।

जड़ प्रकृति और चेतन तत्त्व में भेद स्पष्ट है ही परन्तु दो चेतन सत्ताओं की भिन्नता में कोई शङ्का पैदा न हो जाय इस लिये एक सत्ता का नाम जीवात्मा रख दिया गया है जो जन्म-मरण के बन्धन में आता है और दूसरी चेतन सत्ता का परम+आत्मा या ब्रह्म नाम रख दिया गया है, जिसका अर्थ है बड़ी या महान् आत्मा। ब्रह्म नाम से ही इन दोनों में भिन्नता मालूम होने लगती है। जब तक छोटी आत्मा का अस्तित्व न माना लिया जाय तब तक किसी दूसरी आत्मा को परम-आत्मा याने बड़ी आत्मा कह ही नहीं सकते। छोटा और बड़ा यह सापेक्ष शब्द (Relative terms) हैं। इसीलिये वेद में परमात्मा को ब्रह्म याने बड़ी आत्मा कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि

इससे छोटी आत्मा भी है जिसको जीवात्मा कहा गया है। दोनों को भिन्न-भिन्न नित्य सत्ता माने बिना किसी आत्मा की ब्रह्म संज्ञा हो ही नहीं सकती। यदि जीवात्मा की ब्रह्म से भिन्न छोटी सत्ता न मानी जाय तो परमात्मा के लिये ब्रह्म शब्द वेद से निकालना होगा।

एक घर में किसी बच्चे को तब तक बड़ा भाई नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसका छोटा भाई न हो। इसी तरह ब्रह्माण्ड में किसी भी आत्मा को बड़ा आत्मा (ब्रह्म) नहीं कहा जा सकता जब तक कि उस से भिन्न उससे छोटे आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं कर लिया जाता।

अब इन तीन भिन्न-भिन्न गुण, कर्म, स्वभाव वाली अनादि सत्ताओं [प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म)] के लिये प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं।

(१) अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ (श्वेत० उ० ४-५)

अर्थात्:—एक रूप वाली अजन्मा अर्थात् अनादि बहुत प्रजा रचती हुई श्वेत वर्ण, रक्त वर्ण और कृष्ण वर्ण अर्थात् सत् रज और तम गुण वाली प्रकृति को एक अज (अजन्मा अथवा अनादि) जीवात्मा सेवन करता हुआ अधिकार में करता है अथवा भोगता है और दूसरा (अज) अजन्मा परमेश्वर जीवात्मा द्वारा भोगी हुई इस प्रकृति को त्याग देता है, वह फंसता नहीं।

अज के अर्थ हैं जिसका जन्म कभी न हो(अनादि हो)। इस उपनिषद् के वचन में एक बार अजः आया है जिसके अर्थ होते हैं अनादि प्रकृति और दो बार अज शब्द आया है, एक

वार अनादि जीव के लिये और एक वार परमात्मा के लिये। इसमें प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा को अज अर्थात् अजन्मा अनादि बताया है। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फंसता है और न उसका भोग करता है।

(२) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(ऋ० १। १६४। २०)

अर्थात्:—अपने जैसे नित्य (अनादि) प्रकृति रूप जड़ वृक्ष पर दो चेतन मित्र जीव और ब्रह्म व्याप्य व्यापक होकर स्थित हैं, संयुक्त हैं इनमें चेतन जीव वृक्षरूप संसार के पाप-पुण्यरूप फलों को अच्छी प्रकार भोगता है और दूसरा चेतन ब्रह्म कर्मों के फलों को न भोगता हुआ साक्षी मात्र है।

इस मन्त्र में जीव और ब्रह्म को सखा कहा गया है क्योंकि दोनों अनादि चेतन हैं। प्रकृति को उनका सखा नहीं कहा गया क्योंकि वह जड़ है। मित्रता जड़ और चेतन में नहीं हो सकती। प्रकृति को उनके समान कहा गया है क्योंकि वह उनके समान अनादि है। जीव से ब्रह्म, ब्रह्म से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।

(३) "बालादेकमणीयस्कं उतैकं नैव दृश्यते ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया।" अथर्व १०। ८। २५

अर्थ—(एकं) एक (बालात्) बाल से भी (अणीयस्कं) बहुत अधिक सूक्ष्म अणु (प्रकृति) है। (उत) और (एकं) एक (न इव) नहीं की तरह (दृश्यते) दीखता है। वह है प्रकृति से भी सूक्ष्म चेतन जीवात्मा। (ततः) उससे भिन्न (परिष्वजीयसी) उसे आलिङ्गन किये हुए, उसे व्यापे हुए (देवता) जो देवता है (चेतन ब्रह्म) (स) वह (मम) मुझे (प्रिया) प्यारा है।

भावार्थ—मेरे प्रेम का असली भाजन (पात्र) कौन है ? जीव के एक ओर माया है और एक ओर ब्रह्म है। जीव कहता है कि प्रकृति (माया) जड़ है और निरानन्द होने के कारण मुझे प्रिय नहीं हो सकती। मेरा प्यारा तो स्वभावतः सच्चिदानन्द आनन्दस्वरूप परमात्मा देव है जो कि मेरा अन्तर्यामी अन्तरात्मा है जो मुझे अपने आनन्द से आनन्दित करसकताहै।

अब कुछ प्रमाण दिये जाते हैं जिनसे स्पष्टतया मालूम हो जाता है कि चेतन आत्मा दो हैं। एक केवल शरीर में निवास करता है और एक सर्वभूतान्तरात्मा हैं जो सब ब्रह्मांड में, शरीरों में और जीवों में व्यापक है।

(१) गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥

वेदान्त द० १। २। ११॥

(गुहाम्) हृदय रूप गुहा में, (प्रविष्टौ) प्रविष्ट हुए दोनों, (आत्मानौ) जीवात्मा और परमात्मा, (हि) ही हैं (तद्दर्शनात्) क्योंकि (दूसरी श्रुतियों में भी) ऐसा ही देखा जाता है।

इस वाक्य में "आत्मानौ" द्विवचन है जिसका अर्थ है दो आत्मा। वह दो आत्मा एक जीवात्मा और एक परमात्मा ही हो सकते हैं। यह नहीं लिखा है कि एक आत्मा है और एक उसका प्रतिबिंब है। बल्कि (आत्मानौ) दो आत्मा हैं ऐसा लिखा है। यदि आपकी बात कोई मान भी ले तो भी उसके पास इस प्रश्न का कोई उत्तर न होगा कि क्या बिंब और प्रतिबिंब दोनों एक ही स्थान में रह सकते हैं ? कभी नहीं रह सकते। परन्तु परमात्मा और जीवात्मा दोनों व्याप्य और व्यापक होकर एक ही स्थान में रह सकते हैं।

(२) सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ।

(छा० उ० ६। ३। २)

अर्थात्—"उस देवता (परमात्मा) ने ईक्षण (संकल्प) किया कि मैं इस जीवात्मा के सहित इन अग्नि, वायु, जल तीनों देवताओं में अर्थात् इनके कार्य रूप शरीर में अनुप्रविष्ट होकर नाम और रूप को प्रकट करूं।" इस वाक्य से भी स्पष्ट है कि परमात्मा और जीवात्मा दोनों शरीर में साथ-साथ रहते हैं। बिंब और प्रतिबिंब का यहां भी कोई जिक्र नहीं। दो आत्माओं का ही जिक्र है। यदि आपकी बात कोई मान भी ले कि जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिंब है तो इसका आप क्या उत्तर देंगे कि क्या बिंब (सूर्य) अपने प्रतिबिंब के साथ दर्पण में प्रविष्ट हो सकता है ? इसका उत्तर होगा नहीं। तो मानना पड़ेगा कि शरीर में आत्मा और परमात्मा दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ता है। जीवात्मा परमात्मा का अन्तःकरण में प्रतिबिंब नहीं।

(३) **"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।"** शतपथ ब्रा० १४ । ५ । ३०

अर्थात्—"जो जीवात्मा में रहने वाला,जीवात्मा के भीतर है (व्यापक है), जिसे जीवात्मा नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है और जो उसके भीतर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है, वह है परमात्मा जो तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है।" God resides inside the soul but the soul knows not. इस श्रुति को पढ़कर किसी को यह शंका नहीं हो सकती कि जीव ब्रह्म से पृथक चेतन आत्मा नहीं है।

(४) **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्न्यो ये च त्रिणाचिकेताः ॥** कठ उ० १ । ३ । १

कठ उ० के इस वाक्य में बताया है कि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा छाया और धूप की भांति हृदय रूपी गुहा में साथ-साथ रहते हैं। इसमें परमात्मा को धूप के नाम से वर्णन किया गया है क्योंकि वह सर्वज्ञ पूर्ण ज्ञानस्वरूप एवं स्वप्रकाश है और जीवात्मा को छाया के नाम से कहा गया है क्योंकि वह अल्पज्ञ है। उसमें जो कुछ स्वल्प ज्ञान है, वह भी परमात्मा का ही है। जैसे छाया में जो थोड़ा प्रकाश होता है, वह धूप का ही अंश होता है।

(५) ब्रह्म सूत्र के एक और सूत्र में स्पष्ट लिखा है "हृदय की गुहा में दो आत्मा निवास करते हैं, एक परमज्योतिमान् है। दूसरा उसका दर्शन करता है।" यदि दोनों आत्मा एक ही हैं, तो दर्शन कौन करता है ? वास्तव में यह दो ही हैं। एक है प्रेमी दूसरा प्रियतम। एकहै उपासक दूसरा उपास्य देव।

(६) "न (हि) तं विदाथ या इमा जजानान्यत्युष्माकमन्तरं बभूव, नीहारेण प्रावृता जल्पया चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।"

अर्थ—(या इमा जजान) जिसने सारी प्रजाओं को उत्पन्न किया है (तं न विदाथ) उसे तुम नहीं जानते हो (अन्यत्) यह तुम से भिन्न है (युष्माकम् अन्तरं बभूव) परन्तु तुम्हारे अन्दर ही विद्यमान है। (नीहारेण प्रावृताः) अज्ञान रूप कोहरे से ढके हुए (जल्प्याः) बकवाद करने वाले अभिमानी (असुतृपः) प्राणी की तृप्ति में लगे भोगवादी (उक्थशासः चरन्ति) दूर-दूर विचरण करते हैं, उपदेश करते हैं परन्तु जो कुछ कहते है, करते नहीं।

सारांश—उस सृष्टि-रचयिता परमात्मा को जो हमारे अन्दर विद्यमान है छः प्रकार के व्यक्ति नहीं जान सकते (१) जो अपने आपको "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ही ब्रह्म हूँ) कहते हैं। जो जीव और ब्रह्म को एक समझते हैं। यद्यपि इस मन्त्र में

स्पष्ट लिखा हुआ है कि वह (अन्यत्) तुम से भिन्न है। (२) जो उसको बाह्य वस्तुओं में खोजते फिरते हैं जब कि वह अन्दर मौजूद है। (३) जिन पर अज्ञान का परदा पड़ा हुआ है (४) जो अभिमानी व्यर्थ में बकवाद करते हैं (५) भोगविलास में डूबे हुए (६) जो लच्छेदार भाषण देते फिरते हैं परन्तु शुभ-कर्महीन हैं।

(७) सर्वकर्मा, सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि ॥

(छा० उ० ३ । १४ । ४)

व्याख्या में कहा है कि "शरीर निवासी आत्मा (जीवात्मा) कहता है कि सर्वकर्मा आदि विशेषणों से युक्त ब्रह्म ही मेरे हृदय में रहने वाला मेरा अन्तरात्मा है, मरने के बाद यहां से जाकर परलोक में मैं इसी को प्राप्त होऊंगा।" इसमें स्पष्टतया लिखा हुआ है कि परमात्मा जीव से भिन्न जीव का अन्तरात्मा है और परमात्मा को प्राप्त करना ही जीव के जीवन का लक्ष्य है।

पूज्य स्वामीजी ! उपर्युक्त प्रमाणों से तीन अनादि विलक्षण सत्ताएं गुण कर्म स्वभाव वाली सिद्ध होती हैं, और जीव—ब्रह्म की भिन्नता भी स्पष्ट है।

न्याय दर्शन में भी जीवात्मा और परमात्मा में भिन्नता दिखाई गई है। वहां लिखा है :—

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ १ । १० ॥

क्या आनन्दस्वरूप, मुक्त स्वरूप, ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ ब्रह्म के लक्षण सुख-दुःख इच्छा-द्वेष हो सकते हैं? कभी नहीं। जिस

आत्मा के यह लक्षण हैं वह सच्चिदानन्द परमात्मा (ब्रह्म) कभी नहीं हो सकता। वह आत्मा है, अपने कर्मों का फल दुःख सुख भोगने वाला जीवात्मा।

ब्रह्म और जीव की भिन्नता और तीन अनादि सत्ताएं तो ब्रह्म के तीन गौणिक नामों (सिफाति नामों) से ही स्पष्ट हो जाती है :

ब्रह्मः—इसका अर्थ है बड़ा। तो छोटे कौन ? वह हैं अनेक जीव।

सर्वज्ञः—इसके अर्थ हैं सबको जानने वाला। वह सर्व (सब) कौन हैं जिनका वह ज्ञाता है ? वह हैं जीव और प्रकृति।

राजाः—राजा कहने से उसी वक्त हमारे सामने तीन चीजें और आ जाती हैं क्योंकि बिना देश, प्रजा और खजाना के राजा कहला ही नहीं सकता। (Unlimited space) उसका देश है, अनेक जीव उसकी प्रजा है और प्रकृति उसका खजाना है। वह अनादि राजा है। इसलिये उसकी प्रजा जीव और खजाना (प्रकृति) भी अनादि हैं। जब से वह है तब से ही यह चीजें भी हैं।

तत्व-ज्ञान से इन तीनों अनादि सत्ताओं को अच्छी तरह जानने से ही मोक्षानन्द की प्राप्ति होती है। प्रकृति को जान कर उससे बने हुए पदार्थों का सदुपयोग करने से ही शरीररूपी रथ स्वस्थ रह सकता है। परमात्मा को जानने से पहले अपने आपको जानना जरूरी है। और परमात्मा को जाने बिना मोक्ष की प्राप्ति हो ही नहीं सकती (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय)।

पूज्य स्वामी जी ! अद्वैतवादियों का जीवन-लक्ष्य वही है जो द्वैतवादियों का है। वह लक्ष्य है जन्म-मरण के बन्धन से

छूटकर मोक्षावस्था में ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करके आनन्दित होना। अद्वैतवादियों को भी द्वैतवादियों की तरह साधना चतुष्टय से सम्पन्न होकर उपास्य देव ब्रह्म का उपासक बनकर उसकी उपासना करनी पड़ती है। जब अपने आपको ब्रह्म कह कर भी करना वही कुछ पड़ता है जो जीव करता है तो फिर जीव होकर अपने को ब्रह्म कहने में क्या लाभ ?

अब इस बात पर विचार करते हैं कि परमात्मा ने सृष्टि की रचना किस लिये की है या इस रचना का प्रयोजन क्या है ? कोई भी बुद्धिमान् जब कोई काम करता है तो उसका एक ही मुख्य प्रयोजन होता है—अपनी या किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यता को पूर्ण करना। परमात्मा तो पूर्ण सत् चित् आनन्द है। सब प्रकार से पूर्ण है। उसको तो किसी चीज की भी आवश्यकता नहीं हो सकती। तो क्या उसने विना प्रयोजन के यह रचना की है ? ऐसा तो हो नहीं सकता क्योंकि विना प्रयोजन निरर्थक काम करना बुद्धिमानों का काम नहीं होता, मूर्खों का काम होता है। परमात्मा तो (दानाये कुल) बुद्धिमानों का बुद्धिमान् है उसका कोई काम विना प्रयोजन नहीं हो सकता। इसलिये उसने यह जगत्-रचना जरूर किसी की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये रची है। प्रश्न होता है वह कौन है ? वह है इच्छायुक्त जीव।

परमात्मा सत् चित् आनन्द है। जीव सत् चित् है। जीव में आनन्द की कमी है। परमात्मा जीव से बड़ा है, स्वाभाविक दयालु है। वह अपनी स्वाभाविक इच्छा से, आनन्द से शून्य सत् चित् जीव को अपनी स्वाभाविक दया से अपना आनन्द देकर सत्चित् से सत्-चित्-आनन्द बनाकर उसको आनन्दित करना चाहता है। जीव को आनन्दित करने के लिये उसने अपने स्वाभाविक ज्ञान बल, क्रिया से, उपादान कारण प्रकृति से जगत् की रचना की।

और जीव को शरीर रूपी उपकरण दिये और उसकी पथ-प्रदर्शकता के लिये वेद ज्ञान दिया ताकि योग-मार्ग के सुपथ पर चलकर मोक्ष प्राप्त करके मोक्षकाल में उस के आनन्द से आनन्दित हो सके।

यदि जीव को ब्रह्म से भिन्न न माना जाय तो उसकी सृष्टि रचना निष्प्रयोजन और निरर्थक हो जायेगी। और विना प्रयोजन निरर्थक काम बुद्धिमानों के नहीं होते। इस लिये ऐसा मानना परमात्मा का अपमान करना है। जीव की ब्रह्म से भिन्न सत्ता मान लेनी चाहिये। जब युक्तियों से और प्रमाणों से जीव की सत्ता ब्रह्म से भिन्न सिद्ध होती है तो फिर जीव की ब्रह्म से भिन्न सत्ता मान लेने में क्या आपत्ति है?

ओ३म्। तम्मेमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे तुभ्यमर्चन्ति सिन्धवः। ऋ० ९। ६२। २८

अब इस बात पर विचार करना है कि परमात्मा ने सृष्टि-रचना कैसे की है?

तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म में स्वाभाविक इच्छा होती है जगत् को उत्पन्न करने की और इसकी उत्पत्ति के लिये उसमें स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया होते हैं। (सः अकामयत) उस (ब्रह्म) ने इच्छा की कि (बहु स्याम) मैं बहुत हो जाऊं (प्रजायेय, इति) और प्रजा वाला हो जाऊं। इस पर प्रश्न होता है कि ब्रह्म एक से अनेक कैसे हो जाता है? अद्वैतवादी कहते हैं कि जैसे सोने से अनेक जेवर भिन्न २ शक्लों वाले बन जाते हैं तो भी तमाम जेवर सोना ही होते हैं। इसी तरह ब्रह्म सोने की तरह है और सब पदार्थ भिन्न-भिन्न रूप रंगवाले उसी से निकले हैं और वह सब सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं। इस पर प्रश्न होता है कि यह ठीक है कि तमाम जेवर सोने से बने हैं और वह सोना ही हैं पर क्या सोना

स्वयं अपने आपको ढाल कर भिन्न-भिन्न प्रकार के जेवर बन सकता है ? उत्तर होगा नहीं। यह जेवर सुनार अपने ज्ञान, कर्म और शक्ति से बनाता है परन्तु सुनार विना सोने के एक जेवर भी नहीं बना सकता। सोना सुनार के वगैर स्वयं ढ़ल कर जेवर नहीं बन सकता और सुनार सोने के वगैर एक जेवर भी नहीं बना सकता। इसलिये जेवर बनाने के लिये सुनार और सोने का होना जरूरी है। इसी प्रकार ब्रह्म में स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया और इच्छा है सृष्टि रचना की। अपनी इस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति के लिये उसको भी उपादान कारण की आवश्यकता होती है। यदि ब्रह्म को ही सोनारूपी उपादान कारण मान लिया जाय और जगत् के पदार्थों को ब्रह्मरूपी सोने से बने हुए जेवर मान लिये जायें तो फिर ब्रह्म से भिन्न एक सुनार रूपी सत्ता को मानना पड़ेगा जो ब्रह्म रूपी सोने से भिन्न-भिन्न प्रकार के जगत् के पदार्थ रूपी जेवर बनाता है। यदि ब्रह्म से भिन्न ऐसी सत्ता मानोगे तो अद्वैतवाद समाप्त हो जायेगा। यदि नहीं मानोगे तो कई उलझनें पैदा हो जायेंगी जिनका समाधान करना मुश्किल हो जायेगा।

पहली उलझन:—उपादान कारण सदैव दूसरे के आधीन होता है। अपने आधीन कोई उपादान कारण नहीं हो सकता। (आत्माश्रयी दोष है) आत्माश्रयी दोष कहते हैं अपने कन्धे पर आप चढ़ना और न ही इसका कोई दृष्टान्त मिलता है। इसलिये ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। ब्रह्म को ही उपादान कारण सिद्ध करने के लिये अद्वैतवादी पानी की झाग, बुलबुला और लहर का उदाहरण पेश करते हैं कि यह तीनों चीजें समुद्र के जल से खुद व खुद (स्वयमेव) ही पैदा हो जाती हैं। परन्तु थोड़ा विचार करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि यह स्वयमेव ही पैदा नहीं हो जाते,

इनके पैदा करने वाली है वायु। विना वायु के समुद्र का जल खुद व खुद अपने में से झाग, बुलबुले और लहरें पैदा नहीं कर सकता। केवल उपादान कारण कदापि कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। इस लिये यह नियम है कि कार्य उत्पन्न करने के लिये उपादान और निमित्त कारण दोनों का होना आवश्यक है।

दूसरी उलझनः—यह ठीक है कि तमाम प्रकार के जेवर सोना ही होते हैं, परन्तु जेवर के देखने से तत्काल ही मालूम हो जाता है कि सोने पर जरूर किसी कारीगर के हाथ लगे हैं तब यह जेवर बना है। वह कारीगर होता है सुनार। इसी प्रकार जब हम जेवर रूपी जगत् के पदार्थों को देखते हैं तो तत्काल ही मालूम हो जाता है कि ब्रह्म रूपी सोने पर जरूर किसी कारीगर के हाथ लगे हैं जिसने यह जेवर बनाये हैं। अब बताया जाये कि ब्रह्म से भिन्न वह सुनाररूपी कारीगर कौन है जिसने ब्रह्मरूपी सोने से जेवररूपी जगत् के पदार्थ बनाये हैं? यदि कोई ऐसा कारीगर मानोगे तो अद्वैतवाद समाप्त हो जायेगा और उपादान कारण ब्रह्म इस कारीगर के आधीन होगा। इस उलझन को सुलझाने के लिये जगत् के निमित्त कारण ब्रह्म से जगत् के उपादान कारण को भिन्न मानना ही पड़ेगा। वह उपादान कारण है प्रकृति (माया)।

तीसरी उलझनः—यह ठीक है कि जेवर के सोने और धातु-सोने में कोई भेद नहीं मगर सोने पर कारीगर सुनार के हाथ लगने से जेवर का मूल्य सोने से बढ़ जाता है। इसी प्रकार जगत् के जेवररूपी पदार्थों का मूल्य भी ब्रह्मरूपी सोने से अधिक होगा। इसलिये हमको जगत् के पदार्थों की उपासना करनी चाहिये।

चौथी उलझनः—यदि ब्रह्मको जगत् के पदार्थों का उपादान कारण मान लिया जाये तो ब्रह्म के गुण. जगत् के पदार्थों में भी होने चाहियें। मगर ब्रह्म चेतन, निराकार, ज्ञान-स्वरूप,आनन्द स्वरूप, गति रहित है मगर जगत् के पदार्थ जड़,ज्ञान और आनन्द शून्य हैं और इनमें से अधिकतर साकार और गतिशील हैं। इस लिये गुणों की विलक्षणता के कारण ब्रह्म जगत् के पदार्थों का उपादान कारण नहीं हो सकता।

पांचवीं उलझनः—यदि कोई यह कहे कि ब्रह्म उपादान कारण है और इसके अन्दर स्वयं चल–क्रिया automatic process के कारण जगत् के नाना प्रकार के रूप रंग और गुणों वाले पदार्थ उत्पन्न हो रहे हैं। ऐसी दशा में ब्रह्म को विकारी (विकार युक्त) (Changable) मानना पड़ेगा क्योंकि विना विकार के भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों का पैदा होना असम्भव है। परन्तु हमारे शास्त्र तो ब्रह्म को निर्विकार, एक रस,. unchangable बतलाते हैं। अब शास्त्रों की बात मानें या अद्वैतवादियों का सिद्धान्त (theory) मानें इसका निर्णय आप ही करें।

एक प्रश्न होता है किः—अद्वैतवादियों के सिद्धान्त (theory)के अनुसार यह जगत् जो उपादान कारण ब्रह्म से बना है क्या ब्रह्म ही है या ब्रह्म से भिन्न है? यदि ब्रह्म से भिन्न है तो अद्वैत समाप्त हो जाता है और यदि ब्रह्म ही है तो ब्रह्म समाप्त हो जाता है क्योंकि जगत् ब्रह्म है और जगत् बना है। जो चीज बनी है उसका नाश अवश्य होगा इसलिये जगत् जो कि ब्रह्म है उसका नाश अवश्य होगा। अद्वैतवाद के इस सिद्धान्त (theory) से ब्रह्म ही समाप्त हो जाता है।

यदि ब्रह्म को बचाना है तो कार्य रूप जगत् को ब्रह्म से

भिन्न मानना पड़ेगा और इस कार्यरूप जगत् के उपादान कारण को ब्रह्म से भिन्न मानना पड़ेगा और ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण मानना पड़ेगा।

अद्वैतवादी कहते हैं कि माया ब्रह्म की शक्ति है। इस शक्ति से ब्रह्म ने जगत् बनाया है। इस पर प्रश्न होता है कि ब्रह्म तो चेतन है इसकी शक्ति माया जड़ कैसे हो गई ? जड़ माया चेतन ब्रह्म की शक्ति नहीं हो सकती। एक प्रकार से हम इसको ब्रह्म की शक्ति कह भी सकते हैं जैसे एक तलवार किसी मनुष्य के शरीर की शक्ति तो नहीं हो सकती मगर फिर भी हम कहते हैं उस मनुष्य के पास तलवार की शक्ति है।

एक मनुष्य के पास तलवार हो और एक के पास न हो तो तलवार वाला शरीर की शक्ति के साथ जब तलवार की शक्ति का प्रयोग तो विना तलवार वाले मनुष्य को मार गिरायेगा। धन ऐश्वर्य भी मनुष्य की शक्ति होती है। इसी प्रकार जड़ माया ब्रह्म का ऐश्वर्य है इसलिये ब्रह्म की शक्ति कही जा सकती है। ब्रह्म के स्वाभाविक बल (शक्ति) के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यदि स्वाभाविक शक्ति मानी जाये तो शक्ति से कोई चीज नहीं बनाई जा सकती। कुम्हार के पास घड़ा बनाने का ज्ञान भी हो और शक्ति भी हो फिर भी वह घड़ा नहीं बना सकता जब तक उसके पास घड़े का उपादान कारण मिट्टी न हो। इसी प्रकार यदि ब्रह्म के पास प्रकृति (माया), उपादान कारण न हो तो वह केवल अपने स्वाभाविक ज्ञान, शक्ति और क्रिया से जगत् नहीं बना सकता। सृष्टि-रचना ब्रह्म का स्वाभाविक कार्य है और कार्य किसी चीज पर किया जाता है। ब्रह्म अपने ज्ञान और शक्ति से उपादान कारण प्रकृति पर कार्य करके जगत् बनाता है—इसलिये

जड़ तत्त्व प्रकृति (माया) को ब्रह्म से भिन्न, उपादान कारण को, मानना ही पड़ता है। और परमात्मा को निमित्त कारण।

अब, जब हम इस निर्णय पर पहुंच गये हैं कि जगत् का उपादान कारण जड़, गति शून्य प्रकृति (माया) है तो इस बात पर विचार करना चाहिये कि उसने इस प्रकृति से जगत् की रचना किस तरह की और एक से अनेक कैसे हो गया ?

यह प्रकृति (माया) अनादि काल से परमात्मा में विद्यमान है। परमात्मा अपनी स्वाभाविक इच्छा से गतिशून्य प्रकृति में गति पैदा करके इसको विकृति में बदल देता है। फिर इस विकृति से नाना प्रकार के सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ बनाकर जगत् बना देता है। जगत् के पदार्थों के कारण (प्रकृति) में व्यापक होते हुए भी उन पदार्थों के बन जाने पर ईश्वर उन में अनुप्रविष्ट हुआ करता है।

यह उदाहरण से समझ में आ जाता है। कुम्हार की मिट्टी में यदि हरा रंग मिला हो और वह उस मिट्टी का घड़ा बना दे तो वह हरा रंग घड़े में भी चला जायेगा। इसको कहते हैं हरा रंग घड़े में अनुप्रविष्ट हुआ। मिट्टी में तो पहले ही प्रविष्ट था। इसी तरह प्राकृतिक शरीर और आत्मा इन दोनों में परमात्मा पृथक् २ रहा करता है और अब शरीर और आत्मा के मिलकर उत्पन्नहोने पर भी परमात्मा उसमें प्रविष्ट हुआ। इस लिये उसे अनुप्रविष्ट कहते हैं। ईश्वर इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में अनुप्रविष्ट और तद्‌रूप होकर, घटाकाश मठाकाशवत्, उस वस्तु के प्रतिरूप समझा जाने से, बहुत कहा जाने लगता है। परन्तु वास्तव में वह रहता सदैव एक ही है। जैसा एक जगह उपनिषद् में कहा गया है कि "जिस प्रकार अग्नि या वायु एक भूत होने पर, वस्तुओं में प्रविष्ट होकर, तद्‌रूप हो जाया करते हैं इसी प्रकार वह सर्वभूतान्तरात्मा एक होने पर भी सब में

प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तु के प्रतिरूप हो जाया करता है, परन्तु रहता सदैव उन वस्तुओं से पृथक् ही है" ।

(कठोपनिषद् ५ । ६ । १०)

इस प्रकार असंख्य वस्तुओं में प्रविष्ट (व्यापक) होकर वह (परमात्मा) शब्द मात्र से बहुत कहा जाया करता है, परन्तु इससे उसके एकत्व अथवा सब से पृथक्त्व में बाधा नहीं पहुँचती—यही उसका बहुत हो जाना अथवा प्रजा वाला हो जाना है ।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के अर्थ होते हैं "ब्रह्म सब में अनुप्रविष्ट है ।" इसके यह अर्थ ठीक मालूम नहीं होते कि "सब कुछ ब्रह्म ही है" ।जहां ब्रह्म ने कारण रूप अदृश्य, अप्रत्यक्ष प्रकृति को कार्यरूप जगत् बनाकर उसको दृश्य, प्रत्यक्ष कर दिया वहां अपने आपको भी प्रकृति के नाना रूपों को धारण करके प्रकट कर दिया । जीवों को शरीर देकर उनको भी प्रकट कर दिया । यदि सृष्टि की रचना न करता तो रचयिता परमात्मा को कौन जानता कि वह है भी कि नहीं ।

सृष्टि को रचकर परमात्मा ने तीनों अनादि सत्ताओं (जीव, ब्रह्म और प्रकृति) के होने को सार्थक कर दिया । यदि रचना न करता तो इन तीनों का होना न होना बराबर था ।

जगत् का अस्तित्व ।

अद्वैतवादियों का कहना है कि "यह जगत् जो दीखता है वह स्वप्न की तरह झूठा है, असत्य है ।" वास्तव में यह मिथ्या या झूठा नहीं है । न ही इसका ढांचा स्वप्न समान है । यह अपनी विशेषता रखता है । इसका जन्म प्रकृति और ब्रह्म पर आश्रित है । मृगतृष्णा का उदाहरण दिया जाता है कि जिस

तरह मृगतृष्णा का जल झूठा होता है, इसी प्रकार जगत् भी झूठा है। परन्तु यह उदाहरण तो सिद्ध करता है कि जगत् सच्चा याने सत्य है। क्योंकि यदि जगत् में पानी होता ही न तो मृगतृष्णा में जल का भ्रम ही न होता। मृगतृष्णा में झूठे जल का दीखना ही वास्तविक याने सच्चे जल के होने को सिद्ध करता है। इसी तरह रस्सी में सांप का भ्रम सच्चे सांप का होना सिद्ध करता है। यदि जगत् में सच्चा सांप ही न होता तो रस्सी में झूठा सांप कभी न दीखता। इसी तरह स्वप्न में दीखने वाले झूठे (काल्पनिक) पदार्थ जागृतावस्था के सच्चे पदार्थों का होना सिद्ध करते हैं। यदि सत्य जगत् और इसमें सत्य पदार्थ न होते तो स्वप्न में कोई पदार्थ नजर ही न आते। जिन चीजों का हम जागृतावस्था में अनुभव करते हैं वही चीजें हम स्वप्न में देखते हैं। अन्धों को स्वप्न में कभी रूप रंग दिखाई नहीं देते क्योंकि जगृतावस्था में वह रंग रूप देख ही नहीं सकते। यदि जगत् का अस्तित्व न होता तो स्वप्न भी न होते। जागृत और स्वप्नावस्था में एक खास अन्तर है। स्वप्न में किये हुए सब काम झूठे होते हैं। स्वप्न में चोरी करना, लड़ना, व्यापार करना, मकान बनाना, राजा बनना, हत्या करना आदि सब झूठ(असत्य) होता है, परन्तु जागृतावस्था में किये हुए कर्म सब सत्य होते हैं और उनका फल हमको अवश्य ही मिलता है। यदि जागृतावस्था भी स्वप्न जैसी मान ली जाये तो इसमें भी किये हुए कर्मों का फल नहीं मिलना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं। जागृतावस्था में जो कुछ हम करते हैं, देखते हैं, सुनते हैं, वह सब सच्चा माना जाता है। यदि झूठा माना जाये तो फिर तो यह अमूल्य मनुष्य शरीर जो ब्रह्म प्राप्ति का एक साधन है वह भी झूठा होगा। जब साधन ही झूठा तो ब्रह्म प्राप्ति कैसे होगी ?

झूठी तलवार से किसी का सिर नहीं काटा जा सकता। जब शरीर झूठा तो इस झूठे शरीर से की गई साधना झूठी, कुण्डलिनी शक्ति का जगाना झूठा, हमारा पढ़ना-पढ़ाना झूठा, योगाभ्यास करना झूठा। बुद्धि झूठी तो इससे जो वेद ज्ञान प्राप्त होता है वह भी झूठा। मन से मनन करना, चित्त से चिन्तन करना, अहंकार से अपने आपको शरीर से भिन्न चेतन आत्मा समझना यह सब झूठ होगा। परमात्मा की हस्ती (अस्तित्व) सिद्ध होती है जगत् की रचना से। यदि रचना झूठी है तो परमात्मा का होना भी झूठा होगा। आपके उपदेश भी झूठे और आपकी पुस्तकों में जो कुछ लिखा है वह भी झूठा होगा। "जब जग झूठा हम सब झूठझूठा कथन हमारा" यह जो कहते हैं जगत् झूठा है यह भी झूठ। एक कवि ने जब अद्वैतवादियों के सत्संगों में सुना कि सब कुछ स्वप्नमात्र (झूठा) है तो उसने दुःखी होकर लिखा ऐ ईश्वर!

"अगर दुनिया यह झूठी है तो सब चीजें भी झूठी हैं।
मेरी नजरें भी झूठी हैं तेरा जलवा भी झूठा है॥"

यदि जगत् रचना को स्वप्न मान लिया जाय तो यह स्वप्न कौन देख रहा है? जब ब्रह्म के सिवा और कोई है ही नहीं तो फिर यह स्वप्न वही अनादि काल से देख रहा होगा और अनन्त काल तक देखता चला जायेगा। यह जगत् उसी की कल्पना ही है। बस सब कुछ कल्पना ही कल्पना है:—

"कल्पना से बना है यह संसार सारा,
न हम ही हैं इसमें न ब्रह्म ही हमारा।
हैं वक्ता भी झूठे और श्रोता भी झूठे,
झूठा ही है इनका उपदेश सारा॥
है संसार झूठा तो चीजें भी झूठी,
है झूठा प्रभु का भी दीदार प्यारा।

एक नवयुवक जो बेकार था जिसे कोई रोजगार नहीं मिलता था उसने एक दिन सत्संग में सुना कि यह दुनिया स्वप्न की तरह झूठी है तो उसने चोरी करना शुरू कर दिया पकड़ा गया, न्यायाधीश के सामने पेश किया गया। उसने अपने बयान में कहा कि एक महात्मा ने सत्संग में कहा था कि यह दुनिया झूठी है इसलिये इस झूठी दुनिया में जो चोरी मैंने की है वह भी झूठी है। न्यायाधीश ने कहा कि जो दण्ड मैं आपको देने लगा हूं उस दण्ड को भी इस झूठी दुनिया में झूठा समझकर भुगत लेना। यह कह कर कारागार में ५ वर्ष के लिये चक्की पीसने की सजा सुना दी। युवक ने कहा कारागार भेजने से पहले मुझे उस महात्मा से मिलाया जाय। महात्मा जब आये तो युवक ने कहा कि आपका उपदेश सुनकर मैंने दुनिया को झूठा समझकर झूठी चोरी की। अब ५ वर्ष की झूठी सजा न्यायाधीश ने दी है आप कृपा करके मेरी जगह यह झूठा दण्ड भुगत लें। महात्मा ने कहा—बेटा कर्मों का फल तो भुगतना पड़ता है। कर्म तूने किया है इसलिये सजा भी तू ही भुगत। युवक ने कहा कि जिन साधनों से मैंने चोरी की है वह तो आपने झूठे बताये हैं। झूठे साधनों से किये हुए कर्मों का फल नहीं मिलना चाहिये क्योंकि वह भी झूठे होंगे। यदि कर्मों का फल मिलना ही चाहिये तो फिर किये हुए कर्मों और इन कर्मों के साधनों को भी सच्चा मानना पड़ेगा। अब मैं तो भूल कर बैठा, अब कृपा करके ऐसे झूठे उपदेश देना बन्द करदें।

पाकस्थान भारत पर आक्रमण करने वाला है। यदि सैनिकों ने आपका उपदेश सुन लिया तो वह सोचेंगे कि जब दुनिया स्वप्न की तरह झूठी है तो फिर पाकस्थान का आक्रमण भी झूठा, लड़ना भी झूठा, हार जीत

भी झूठी, पाकस्थान का भारत पर कब्जा भी झूठा होगा। इसलिये झूठी लड़ाई लड़ने से क्या लाभ। यदि आपका उपदेश सुनकर उन्होंने ऐसा सोच लिया और लड़ने से इन्कार कर दिया तो भारत का क्या हाल होगा ? आपके उपदेश से जो हाल मेरा हुआ है वह तो आपको मालूम है। अब ऐसे उपदेश बन्द करो। देखा जगत् को झूठा बतलाना कितना हानिकारक है।

कितने आश्चर्य की बात है कि अद्वैतवादी कहते तो हैं कि जगत् ब्रह्म है और साथ ही यह कह देते हैं कि जगत् झूठा है। जब जगत् ब्रह्म है और ब्रह्म सत्य है तो फिर जगत् को झूठा कैसे कह सकते हैं ? वास्तविक बात तो शास्त्रों के अनुसार यह है कि जगत् न ब्रह्म है न झूठा है। यह ब्रह्म से भिन्न है और जड़ तत्त्व से इसकी उत्पत्ति है। ब्रह्म चेतन तत्त्व है। ब्रह्म भी सत्य है और जगत् का उपादान कारण प्रकृति भी सत्य है। इसलिये जगत् झूठा नहीं। इसकी दो अवस्थाएं होती हैं— एक अदृश्य (अप्रत्यक्ष) और दूसरी दृश्य (प्रत्यक्ष)। जब परमात्मा अपने स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया से जगत् की रचना करता है तो जगत् को इसके कारण रूप प्रकृति से कार्य रूप में ले आता है।

तब यह अदृश्य(अप्रत्यक्ष)अवस्था से दृश्य(प्रत्यक्ष)अवस्था में आ जाता है। और जब परमात्मा उत्पत्ति के बाद प्रलय करता है तो यह जगत् अपने कार्यरूप से कारण रूप प्रकृति में चला जाता है। तब यह दृश्य (प्रत्यक्ष) अवस्था से अदृश्य (अप्रत्यक्ष) अवस्था में चला जाता है। इसको जगत् का नाश होना कहते हैं। नाश होने के अर्थ भाव से अभाव होना नहीं अपितु दृश्य (प्रत्यक्ष) से अदृश्य (अप्रत्यक्ष) हो जाना है याने कार्यरूप से कारण रूप में चला जाना नाश हो जाना कहलाता है। जैसे

तीन सेर मिट्टी से एक घड़ा बनाया जाये तो यह कारण रूप मिट्टी से कार्यरूप घड़ा बन जायेगा, अपने अदृश्य रूप से दृश्य रूप में आ जायेगा और जब इसको तोड़ दिया जाये तो अपने दृश्य कार्य रूप से अदृश्य कारण रूप मिट्टी में चला जायेगा। इसको घड़े का नाश होना कहते हैं। यह दृश्य से अदृश्य हो जाता है। घड़े का रंग रूप छिप जाता है मगर इसका भाव से अभाव नहीं हो जाता क्योंकि इसका उपादान कारण तीन सेर मिट्टी वैसी की वैसी मौजूद रहती है, और फिर उसी तीन सेर मिट्टी से अदृश्य रूप घड़े को दृश्य रूप में लाया जा सकता है। यह जगत् भी घड़े की तरह नाशवान् तो है मगर झूठा नहीं। इसके अस्तित्व का अभाव कभी नहीं होता। दृश्य से अदृश्य और अदृश्य से दृश्य होता रहता है। दृश्यरूप (कार्य रूप) में हमारे जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का यह भी एक भौतिक साधन है। इसलिये कार्यरूप जगत् को झूठा कहना ठीक नहीं।

अथर्व वेद १० । ८ । ३९ में लिखा है:—"पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" अर्थात् (पूर्णात्) पूर्ण से (पूर्णम्) पूर्ण (उदच्यते) उत्पन्न होता है। पूज्य स्वामी जी ! यह संसार तो पूर्ण है क्योंकि पूर्ण पुरुष का रचा हुआ है। यह तो परिपूर्ण कृति है उस परमात्मा की। उसकी इस परिपूर्ण कृति को झूठा कहना उसके कार्य की निन्दा करना है, उसकी अवहेलना करना है।

वह सर्वशक्तिमान्, ज्ञानस्वरूप, ज्ञान का भण्डार पूर्ण कारीगर ही क्या जो एक भी सच्ची वस्तु नहीं बना सकता ?

जिस जगत् की रचना में ज्ञान के भण्डार, सर्वशक्तिमान्, और पूर्ण कारीगर ब्रह्म ने अपनी सम्पूर्ण कला को लगा दिया, जिसकी कारीगरी और सृष्टि-नियमों को समझने में बड़े २ वैज्ञानिकों की बुद्धि हैरान है उस जगत् को झूठा कह देना कितना अनर्थ है और ब्रह्म का कितना अपमान है।

वेद माता तो कहती है "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" परमात्मा की रचना देखो जो न कभी पुरानी होती है, न मरती है। मगर अद्वैतवादी कहते हैं यह है ही नहीं, स्वप्न की तरह झूठी है।

जो मनुष्य परमात्मा के रचे हुए पदार्थों का उपभोग भी करते हैं और साथ ही इनको झूठा कहकर परमात्मा की रचना की निन्दा करते हैं ऐसे कृतघ्नों को जब प्यास लगे तो पानी मत दो, भूख लगे तो अन्न मत दो, रोगग्रस्त हों तो औषधि मत दो, लड़का उत्पन्न हो तो बधाई मत दो, कोई मर जाये तो मातम पुर्सी मत करो और कहो कि प्यास, पानी, भूख, अन्न, रोग, औषधि आदि सब झूठ हैं। फिर उनकी समझ में आजायेगा कि ईश्वर की रचना सच्ची है या झूठी।

एक प्रश्न होता है कि जब ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो उसने यह झूठी दुनिया किस को धोखा देने के लिये बनाई है ?

यही कहना पड़ेगा कि आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ने केवल अपने आपको धोखा देने के लिये यह सब माया का झूठा खेल रचा है।

सच तो यह है कि ब्रह्म की रचना न झूठी है न खराब है। यह प्रकृति (माया) से बना हुआ जगत् और इसमें सब पदार्थ जीवन यात्रा को पूर्ण करने और ब्रह्मप्राप्ति के साधन हैं। इनको सच्चे साधन मानकर इनका सदुपयोग करना हमारा धर्म है। परन्तु जो इन चीजों को अपना समझकर उनमें ममता जोड़ लेते हैं वह माया में फंस जाते हैं और ब्रह्म से दूर हो जाते हैं और दुःख उठाते हैं। संसार को जब छोड़ने का समय आता है तो उस समय मौत की शय्या पर ममता के कारण बहुत दुःखी होते हैं। इसलिये माया का दुरुपयोग खराब है। माया

का कोई दोष नहीं। एक चाकू से डाक्टर आपरेशन करता है, कातल उसी चाकू से कतल करता है। चाकू का दोष नहीं, न ही चाकू खराब है। चाकू का दुरुपयोग खराब है। इसी तरह माया न झूठी है न खराब है। इसमें लिप्त होना खराब है। पूर्ण सत्य ब्रह्म की रचना कैसे झूठी और खराब हो सकती है। इसका सदुपयोग करो।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

अब इस पर विचार करते हैं कि यदि जगत् मिथ्या याने झूठा नहीं तो स्वामी शङ्कराचार्य ने जगत् को मिथ्या क्यों कहा है? इस वाक्य के समझने में बड़ी भूल हुई है। इस वाक्य का वास्तविक अभिप्राय एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। जैसे कागज के फूलों को झूठा कहा जाता है इसलिये कि उन में सुगन्ध नहीं होती। परन्तु कमरे की सजावट के लिये वह झूठे नहीं। इसी प्रकार संसार के पदार्थों में आनन्द नहीं जिस को प्राप्त करना हमारा जीवन लक्ष्य है। यह पदार्थ आनन्द से शून्य हैं इसलिये शङ्कराचार्य ने इनको झूठा कहा ताकि हम इन में आनन्द तलाश करने में अमूल्य मनुष्य जीवन नष्ट न करें। परन्तु आनन्द प्राप्ति के लिये यह सच्चे साधन जरूर हैं क्योंकि विना इन साधनों के शरीर रूपी बड़ा साधन स्वस्थ नहीं रह सकता और विना स्वस्थ शरीर के योगाभ्यास नहीं हो सकता और विना योगाभ्यास के आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसा कि कवि ने कहा है:—

हर जगह मौजूद है पर वह नजर आता नहीं।
योग साधन के विना उसको कोई पाता नहीं॥

अब प्रश्न होता है कि यदि आनन्द संसार के पदार्थों में नहीं है तो वह कौन सा सत्य पदार्थ है जिसमें आनन्द है? इसका उत्तर भी शङ्कराचार्य ने दिया है कि "ब्रह्म सत्यं" याने

वह सत्य पदार्थ, आनन्द का भण्डार स्वयं ब्रह्म ही है जैसा कि अथर्ववेद में लिखा है "स्वर्यस्य च केवलं" याने वह ब्रह्म केवल आनन्द ही आनन्द है। एक और जगह लिखा है "एष ह्येवा-नन्दयाति" याने वह परमात्मा ही सब जीवों को आनन्दित करता है।

अब प्रश्न होता है कि वह आनन्द का भण्डार सत्य ब्रह्म है कहां, हम उसकी कहां तलाश करें ? इसका उत्तर भी शङ्कराचार्य जी ने दे दिया है कि "जीवो ब्रह्मैव नापरः" याने जीव और ब्रह्म अलग नहीं, उनमें दूरी का भेद नहीं है। वह तो जीव के अति समीप है। वह तो जीवात्मा का अन्तर्यामी आत्मा है। उसके अन्दर व्यापक है। (शतपथ ब्रा० १४।५।३०) इसलिये उसकी तलाश में कहीं नहीं जाना।

योगाभ्यास से यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की सीढ़ियों पर चढ़कर समाधिस्थ होकर मन मन्दिर में घुस कर ब्रह्म से युक्त होकर आनन्दित हो जाओ।

"मिलेगा आनन्द उसी को केवल—
जो दिल के मन्दिर में जा घुसा है"।

पाप कौन करता है ?

अद्वैतवाद के सिद्धान्त के अनुसार जब ब्रह्म के सिवा और कोई चेतन सत्ता है ही नहीं तो पाप कौन करता है ? जड़ पदार्थ तो पुण्य-पाप कर ही नहीं सकते। यह तो चेतन का काम है। यदि पुण्य-पाप करने वाली कोई चेतन सत्ता ब्रह्म से अतिरिक्त मानी जाये तो अद्वैतवाद समाप्त होता है। यदि न मानी जाय तो पाप का कर्ता भोक्ता और नाना प्रकार की योनियों में भटकने वाला ब्रह्म को ही मानना पड़ेगा इस प्रश्न

का अद्वैतवाद के पास कोई उत्तर नहीं। अद्वैतवादी महात्मा इस बात की बड़ी कोशिश करते हैं, और इसके लिये कई मन-माने सिद्धान्त (theories) भी पेश करते हैं कि किसी तरह यह सिद्ध हो जाये कि पाप का कर्त्ता भोक्ता और नाना प्रकार की योनियों में जाने वाला जीव है ब्रह्म नहीं और साथ ही यह भी सिद्ध हो जाये कि जीव परमार्थ में ब्रह्म ही है।

तो फिर पापी जीव है क्या ? कभी कहते हैं जीव ब्रह्म का अंश है वह पाप करता है। कभी कहते हैं जीव ब्रह्मरूपी समुद्र की लहरें हैं या बुलबुले हैं वह पाप करते हैं। कभी कहते हैं जीव ब्रह्म का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब है और मन बुद्धि के गुणों के प्रभाव से पाप-पुण्य करता है। यह सब मनमाने सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर एक भी ठीक नहीं उतरते। जब कोई भी उत्तर नहीं बन पड़ता तो कह देते हैं कि यह संसार तो स्वप्नमात्र है, इसमें जीव भी कल्पित है। इसलिये न कोई कर्म करता है,न फल भोगता है,न जन्म है, न मरण है, न नरक है, न स्वर्ग है, न उत्पत्ति होती है, न प्रलय होती है, न बन्धन है, न मोक्ष है। सब कल्पना ही कल्पना है। परन्तु ऐसा कहने पर भी ब्रह्म पापी कहलाने से नहीं बच सकता क्योंकि कल्पना करने वाला भी तो ब्रह्म ही है, और कल्पना भी उन चीजों की की जाती है जो अनुभव में आई हुई हों।

एक जन्म से अन्धा कभी रंग की कल्पना कर ही नहीं सकता। एक आंखों वाला जिसने रंग का अनुभव किया होता है वही स्वप्न में रंगों की कल्पना कर सकता है। हम सींगों वाले खरगोश की कल्पना इसलिये कर सकते क्योंकि हमको सींगों और खरगोश दोनों का अनुभव है। हमने उस अनुभव के आधार पर सींगों और खरगोश को मिलाकर एक कल्पित खरगोश बना दिया। हमारी तमाम कल्पनाओं का आधार हमारे पहले किये

हुए अनुभव होते हैं । इसलिये ब्रह्म के स्वप्न में किये हुए कल्पित पापों का आधार भी ब्रह्म की जागृत अवस्था में ब्रह्म के किये हुए पाप कर्मों का ही अनुभव होगा। ऐसी दशा में ब्रह्म "शुद्धमपापविद्धम्" (शुद्ध पापरहित) नहीं कहला सकता ।

इसीलिये स्वर्गीय स्वामी शिवानन्द जी ऋषिकेश वालों को अपनी पुस्तक Essence of Vedanta (पृष्ठ ३०)पर लिखना पड़ा कि:—"God is the Essence of even the satan. He is the source of even the worst evil." परमात्मा शैतान की भी जड़ है, और बड़े से बड़े पाप का भी स्रोत है।" यदि वह जीव को ब्रह्म से भिन्न पाप-पुण्य कर्मोंका कर्त्ता भोक्ता मान लेते तो उनको ब्रह्म के लिये ऐसे शब्द लिखने न पड़ते कि वह बड़े से बड़े पाप का भी स्रोत है।

पूज्य स्वामी जी ! अब आप ही निर्णय करें कि ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला पाप-पुण्य कर्मों का कर्त्ता भोक्ता चेतन अल्पज्ञ जीव को मानना ठीक है जो शास्त्रों के अनुकूल है या ब्रह्म को पापी कहना ठीक है ?

जीव के दो स्वरूप—एक वाच्यस्वरूप,दूसरा लक्ष्यस्वरूप

पूज्य स्वामी जी ! आपने भी, यह सिद्ध करने के लिये कि पाप कर्मों का कर्त्ता भोक्ता जीव है ब्रह्म नहीं, एक विचित्र सिद्धान्त (theory) अपनी पुस्तक "सरल वेदान्त" में लिखा है। इस में आपने जीव के दो स्वरूप बताये हैं। एक वाच्य-स्वरूप दूसरा लक्ष्य-स्वरूप।

कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दु:खी, अहंकार, ममता, स्वार्थ, राग, द्वेष आदि दोषों से पूर्ण, हद वाला (परिच्छिन्न), अल्पज्ञ आदि धर्मों वाला है, जीव का "वाच्य स्वरूप", और सत्‌चित् एवं आनन्द स्वरूप है जीव का साक्षी चेतन "लक्ष्य-रूप"। याने

जीव का वाच्य स्वरूप है "चिदाभास" और लक्ष्य-स्वरूप है साक्षी-चेतन ब्रह्म ।

जीव के बाच्य-स्वरूप(चिदाभास) और लक्ष्य-स्वरूप(साक्षी-चेतन ब्रह्म) को समझाने के लिये आपने एक दृष्टान्त लिखा है: —

"एक वृक्ष पर कुछ पक्षी बैठे थे। एक लड़के ने दर्पण उठा कर इस तरीके से पकड़ा कि सूर्य का प्रतिबिम्ब उन पक्षियों पर पड़ा और पक्षी उड़कर दूसरे वृक्ष पर जा बैठे। तब पक्षियों ने सोचा कि हम को किसने भगाया है! एक पक्षी ने कहा "मालूम होता है दर्पण ने हमको भगाया है।" दूसरा बोला "दर्पण तो जड़ है, बह हमें नहीं भगा सकता, मालूम होता है सूर्य के प्रकाश ने हमें भगाया है"। तीसरे ने कहा "प्रकाश पर दोष मत लगाओ। प्रकाश तो सर्वत्र समान रूप से व्यापक है। उस प्रकाश में तो हम घूमते-फिरते हैं।" फिर एक वृद्ध पक्षी ने कहा "बास्तब में न अकेले दर्पण ने भगाया है न केवल प्रकाश ने, परन्तु दर्पण में आये हुए सामान्य प्रकाश के प्रतिबिंब (Reflection) ने भगाया है।"

इस दृष्टान्त की आपने इस तरह व्याख्या की है "अब देखिये यहां तीन पदार्थ हैं। एक दर्पण, दूसरा दर्पण-उपहित सामान्य प्रकाश (जो प्रकाश सर्वत्र व्यापक है, बह दर्पण में भी है। उस दर्पण की हद में आए हुए सामान्य प्रकाश को कहते हैं दर्पण-उपहित-सामान्य प्रकाश) तीसरा दर्पण में आया हुआ उस 'सामान्य प्रकाश का प्रतिबिम्ब" अर्थात् "विशेष प्रकाश।"

"जैसे यहां तीन पदार्थ हैं, बैसे जीब के बाच्य-स्वरूप में भी तीन पदार्थ हैं एक "अन्तःकरण का दर्पण," दूसरा "अन्तःकरण-उपहित-सामान्य चेतन" (ब्रह्म) (जो सामान्य चेतन सर्वत्र

व्यापक है वह अन्तःकरण में भी है, उस अन्तकरण की उपाधि में आये हुए सामान्य चेतन को कहते हैं अन्तःकरण-उपहित-सामान्य चेतन।)तीसरा अन्तःकरण में आया हुआ "सामान्य चेतन (ब्रह्म) का प्रतिबिम्ब"। इन तीनों को मिलाकर जीव का वाच्य स्वरूप" कहते हैं।"

"दर्पण में एक ही काल में और एक ही देश (Space) में दो प्रकाश प्रतीत होते हैं। एक सामान्य दूसरा विशेष। तो उनमें एक सत्य होना चाहिये एक कल्पित। क्योंकि दो सत्य पदार्थ एक देश में, एक काल में नहीं रह सकते।

पक्षियों का भागना कल्पित (आभासरूप) प्रकाश का कार्य है। सामान्य प्रकाश तो एक रस, निर्विकार केवल सत्ता-प्रदायक है। उसी प्रकार एक बुद्धि-रूपी पेड़पर दो चेतन हैं एक सामान्य चेतन, दूसरा विशेष चेतन। उनमें सामान्य चेतन (ब्रह्म) सत्य है और विशेष चेतन (जींव) कल्पित है क्योंकि दो सत्य चेतन तो एक काल व एक देश में रह ही नहीं सकते। साक्षी स्वरूप सामान्य चेतन के व्यापक होने के कारण दोनों चेतनों का एक देश में रहना अनिवार्य है ही। अतः जो कल्पित विशेष चेतन अर्थात् चिदाभास है, वही कर्त्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी, अल्पज्ञ व राग, द्वेष आदि धर्मों वाला है। वास्तव में भिन्न-भिन्न धर्म अन्तःकरण (मन, बुद्धि) के हैं। प्रतिबिम्ब में उपाधि के धर्म आया करते हैं, परन्तु सामान्य चेतन, उपाधि के धर्मों से रहित एक निर्विकार, निष्क्रिय, केवल प्रकाशक साक्षी चेतन स्वरूप है।"

"जब वेद शास्त्र व सन्तों की वाणियां, जीव को ब्रह्म कहती हैं तब जीव के तीनों हिस्सों को अर्थात् "अन्तःकरण" (दर्पण) "चिदाभास" (प्रतिबिम्ब) और "साक्षी चेतन (ब्रह्म)" सबको मिलाकर ब्रह्म नहीं कहतीं, परन्तु केवल साक्षी शुद्ध चेतन(ब्रह्म)

को लक्ष्य करके ही कहती है।"

अब हम आपके इस सिद्धान्त(theory)पर विचार करते हैं:—

आपका यह मनमाना सिद्धान्त (theory) किसी वेद शास्त्र के प्रमाण एवं युक्तियों से सिद्ध नहीं हो सकता। आपके सिद्धान्त (theory)के अनुसार जीव के तीन हिस्से हैं--याने जीव संज्ञा है तीन चीजों के संयोग की—(१) "अन्तःकरण" (मन, बुद्धि) (२) अन्तःकरण-उपहित (अन्तःकरण की उपाधि में आया हुआ) 'सामान्य साक्षी चेतन (ब्रह्म)" (३) अन्तःकरण में आया हुआ "सामान्य साक्षी चेतन(ब्रह्म) का प्रतिबिम्ब"(विशेष कल्पित चेतन)। जीव का तीन हिस्सों वाला होना ही जीव का वाच्यस्वरूप हैं।

अब आपके इस सिद्धान्त(theory) के विपरीत निम्न लिखी बातें आपके लिये विचारणीय हैं:—

(१) आपका यह तीन हिस्सों वाला जीव (जिसका वाच्य-स्वरूप है) किसी वेद शास्त्र के प्रमाणों या युक्तियों से सिद्ध नहीं होता।

यह तो आप ही की कल्पना है। जब उपर्युक्त प्रमाणों और युक्तियों से स्पष्टतया सिद्ध किया जा चुका है कि मनुष्य के हृदय में दो आत्मा व्याप्यव्यापक होकर निवास करते हैं तो फिर यह कैसे माना जा सकता है कि एक आत्मा (परमात्मा) बिम्ब है और दूसरा आत्मा (जीवात्मा) उसका प्रतिबिम्ब है जबकि उपर्युक्त प्रमाणों में बिम्ब और प्रतिबिम्ब का कोई वर्णन नहीं। शतपथ ब्रा० १४।५।३० में तो स्पष्ट लिखा हुआ है कि परमात्मा जीवात्मा का अन्तर्यामी आत्मा है जो कि जीवात्मा के भीतर है(उसमें व्यापक है)। यदि आपकी बात को मान लिया जाये कि परमात्मा बिम्ब है और जीव प्रतिबिम्ब है तो क्या बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों एक ही जगह पर और

बिम्ब प्रतिबिम्ब के अन्दर रह सकते हैं ? कभी नहीं। बिम्ब दर्पण के बाहर होता है और प्रतिबिम्ब दर्पण के अन्दर (यह नियम है बिम्ब से प्रतिबिम्ब के बनने का)। बिम्ब और प्रति-बिम्ब दोनों न कभी एक ही जगह रह सकते हैं और न ही बिम्ब प्रतिबिम्ब के अन्दर होता है।

(२) आपने जीव के दो स्वरूपों की कल्पना की है एक "वाच्य-स्वरूप" और एक "लक्ष्य-स्वरूप"। आपके कथनानुसार तीन चीजों के संयोग से (अन्तःकरण+अन्तःकरण की उपाधि में आया हुआ सामान्य साक्षी चेतन (ब्रह्म)+अन्तःकरण में आये हुये सामान्य साक्षी चेतन (ब्रह्म) का प्रतिबिम्ब (विशेष चेतन) जीव बनता है। इन तीन हिस्सों वाले जीव का स्वरूप आपने वाच्य स्वरूप बतलाया। जब तक इन तीन हिस्सों का संयोग है तब तक इसकी संज्ञा है जीव और इसका स्वरूप होगा वाच्य स्वरूप। इन तीन में से किसी एक चीज को निकाल दो जीव समाप्त हो जायेगा। जीव बना तीन चीजों से और जब तक रहेगा इसके तीन हिस्से जरूर रहेंगे। यदि एक चीज की कमी हो गई तो जीव नाम वाली चीज न रहेगी। अब इस तीन हिस्सों वाले जीव में क्या परिवर्तन आयेगा जब इसका वाच्यस्वरूप बदल कर लक्ष्य स्वरूप हो जायेगा ?

इसका उत्तर देने में एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। वह यह कि इसके तीनों हिस्सों का संयोग बना रहे। यदि तीन हिस्सों में से एक हिस्सा भी कम हो गया तो जीव ही समाप्त हो जायेगा। जब जीव ही न रहेगा तो लक्ष्य स्वरूप किस का होगा ?

आप स्वरूप तो पेश करेंगे साक्षी चेतन ब्रह्म का और कह देंगे कि यह जीव का लक्ष्य स्वरूप है। इसको सिद्ध कैसे करेंगे कि यह स्वरूप ब्रह्म का नहीं जीव का है। वास्तव में बात यह

है कि आप जीव का जो लक्ष्य है उसके स्वरूप को जीव का लक्ष्य स्वरूप बतलाकर लोगों में गलतफहमी(भ्रम) पैदा करके अपने सिद्धान्त (theory) को सिद्ध करने का यत्न कर रहे हैं जीव का लक्ष्य है ब्रह्म। आप जीव के लक्ष्य (ब्रह्म) के स्वरूप का नाम "जीव का लक्ष्य स्वरूप" रख कर लोगों को भ्रमा रहे हैं। आपके कथनानुसार जीव बनता है,तीन चीजों के संयोग से और इस तीन हिस्सों वाले जीव के स्वरूप का कल्पित नाम वाच्य स्वरूप रखा है। और लक्ष्य स्वरूप आप बताते हैं इन तीन पदार्थों में से केवल एक पदार्थ को जिसको आप साक्षी शुद्ध चेतन (ब्रह्म) कहते हैं। भला एक पदार्थ साक्षी चेतन (ब्रह्म) का स्वरूप तीन पदार्थों के संयोग से बने हुए जीव का स्वरूप कैसे माना जा सकता है ?

(३) आपने पृष्ठ ३३ पर लिखा है "जब वेद शास्त्र व सन्तों की वाणियां, जीव को ब्रह्म कहती हैं तब जीव के तीनों हिस्सों को अर्थात् अन्तःकरण, चिदाभास (प्रतिबिम्ब) और साक्षी चेतन सबको मिलाकर ब्रह्म नहीं कहतीं, परन्तु केवल साक्षी शुद्ध चेतन को लक्ष्य करके ही कहती हैं।"

पूज्य स्वामी जी! वेद शास्त्र और सन्तों की वाणियां तो साक्षी शुद्ध चेतनको ही ब्रह्म कहती हैं और साक्षी शुद्ध चेतन तो है ही ब्रह्म। इस लिये वह तो ब्रह्म को ही ब्रह्म कहतीं हैं। जीव जो तीन हिस्सों वाला है उसको तो ब्रह्म कहती ही नहीं तो फिर जीव और ब्रह्म की एकता कैसे सिद्ध करोगे।

(४) आपने सरल वेदान्त के पृष्ठ ३३ पर लिखा है "अतः जो कल्पित विशेष चेतन अर्थात् चिदाभास (प्रतिबिम्ब) है वही पापकर्त्ता और भोक्ता है।"

पूज्य स्वामी जी! आपकी कल्पना का जो कल्पित जीव है वह बनता है तीन चीजों के संयोग से–अन्तःकरण+अन्तःकरण

की उपाधि में आया हुआ शुद्ध चेतन साक्षी (ब्रह्म) और शुद्ध साक्षी चेतन ब्रह्म का प्रतिबिम्ब। अब देखना यह है कि इन तीन हिस्सों में पाप करने वाला कौन है ? पाप करने वाला जड़ नहीं होता, चेतन ही पाप करता है। अब अन्तःकरण तो जड़ है वह पाप का कर्त्ता नहीं हो सकता और न ही प्रतिबिम्ब कर सकता है क्योंकि यह कल्पित चेतन है। तो फिर पाप का कर्त्ता साक्षी चेतन ब्रह्म ही हो सकता है। इस लिये आप अपने सिद्धान्त (theory) से ब्रह्म को पाप का कर्त्ता कहलाने से नहीं बचा सकते। इस लिये जीवात्मा की सत्ता ब्रह्म से भिन्न मान कर इसीको कर्त्ता भोक्ता शास्त्रों के अनुसार मान लेना चाहिये। इस तरह ब्रह्म को पापी कहना न पड़ेगा।

(५) ब्रह्म एकरस निर्विकार है। इसमें कोई विकार (Change) नहीं हो सकता। तो फिर माया के अन्तःकरण रूपी दर्पण ने एकरस निर्विकार ब्रह्म को दो प्रकार का कैसे कर दिया एक सामान्य चेतन, दूसरा विशेष चेतन। सामान्य चेतन, तो है "शुद्धमपापविद्धम्" (शुद्ध पापरहित) और विशेष चेतन पाप कर्त्ता और दुःख भोक्ता। यह भेद बिना विकार पैदा करने के हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा मानोगे तो ब्रह्म को विकार युक्त मानना पड़ेगा। इस लिये जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब न मानकर इसकी ब्रह्म से भिन्न सत्ता मान लेनी चाहिये।

(६) मन और बुद्धि जीव से पाप पुण्य नहीं कराते क्योंकि वह जड़ हैं। जड़ चीज चेतन चीज से काम नहीं करा सकती। चेतन अपनी इच्छा से जड़ साधनों से काम लेकर अच्छे बुरे काम करता है। तलवार किसी के हाथ से किसी का सिर नहीं कटवा सकती यह चेतन जीव की अपनी स्वतन्त्र इच्छा है कि वह तलवार से किसी का सिर काटे या न काटे।

(७) जब आपके सिद्धान्त के अनुसार आपके तीन हिस्सों वाले जीव के वाच्यस्वरूप में और साक्षी शुद्ध चेतन ब्रह्म के स्वरूप में ही भिन्नता है तो फिर जीव ब्रह्म की एकता कैसे सिद्ध होगी ?

पूज्य स्वामी जी ! आप के सिद्धान्त (theory) से पापों का कर्त्ता तो ब्रह्म ही सिद्ध होता है परन्तु उन पाप कर्मों का दंड देता है जीव को।

जीव को जब ब्रह्म उसके पाप कर्मों का दण्ड देने लगा तो जीव ने अपनी सफाई पेश करते हुए अपने पक्ष में कहा कि

(१)यदि आप अन्तःकरण रूपी दर्पण,जड़ माया से बनाकर उसके सामने खड़े न होते तो आपकी चेतनता का अक्स "विशेष चेतन" ही न बनता और जब अक्स (प्रतिबिंब) ही न बनता तो मेरी अस्तित्व (हस्ती) ही न होता और न मैं पाप करता। आपने अन्तःकरण रूपी दर्पण बनाकर उसमें अपना प्रतिबिंब बनाकर मुझको पाप करने के लिये पैदा ही क्यों किया ? और फिर मैं तो आपका ही Reflection (अक्स) हूं।

सामान्य चेतन गर है तू विशेष चेतन भी है तू।
मैं तेरा ही तो अक्स हूँ जिसका है माकूस तू ॥

मैं तो आपका ही Reflction(अक्स) हूँ। अच्छा Reflection भी आपका और बुरा भी आपका ही हूँ। यदि मेरे में कुछ नुक्स है तो वह नुक्स आप ही के Reflection (अक्स में है। यदि दर्पण (मन और बुद्धि) में कुछ नुक्स है तो वह भी आपके ज्ञान और रचना में नुक्स है क्योंकि मन बुद्धि की रचना आप ही ने की है। इसलिये मेरे पाप कर्मों का उत्तरदायित्व Responsibility) आप पर है। क्या मैंने आपसे विनति (प्रार्थना)की थी कि आप मुझे पाप करनेके लिये पैदा करें और फिर जन्म-जन्मान्तरों के चक्र में बांध कर दण्ड देते रहें ?

(२) कहते हैं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह सब कुछ ब्रह्म ही है। तो फिर अन्तःकरण का दर्पण भी आप हैं, बिंब (ब्रह्म) भी आप हैं और प्रतिबिंब (जीव) भी आप ही हैं। इसलिये पाप करने वाले भी आप हैं, और भोक्ता भी आपको होना चाहिये। पाप कर्मों के करने वाले तो हैं आप और दंड मुझे देते हो। क्या आप न्यायकर्त्ता हैं ?

(३) आप कहते हैं कि आपने माया से शादी करके जो मुझ जीवरूपी पुत्र को पैदा किया है यह सब झूठ है। क्योंकि माया झूठी है इसका अस्तित्व ही नहीं। इसलिये इस से जीवरूपी पैदा हुआ पुत्र भी झूठा ही हुआ। तो मेरा तो अस्तित्व ही नहीं जब मेरी हस्ती ही नहीं तो मैं पापों का कर्त्ता कैसे हो सकता हूँ ? आपका अस्तित्व है इसलिये आप ही पाप-कर्मों के कर्त्ता और भोक्ता हो सकते हैं।

देखा ! जीव ने किस तरह अपनी जान छुड़ा ली। जीव कहता भी सच है। आपका सिद्धान्त जीव को ब्रह्म से भिन्न मानता ही नहीं। और यह भी कहते हैं कि जीव झूठी माया से पैदा हुआ ब्रह्म का पुत्र है, इसलिये झूठा हुआ। या कहते हैं कि अन्तःकरण में जो चेतन विशेष है (जीव है) वह कल्पित है—झूठा है। तो फिर कल्पित चीज को (झूठी चीज को) आप पाप कर्मों के लिये किस तरह उत्तरदायी (Responsible) बना सकते हो।

आपकेसिद्धांत (theory) में एक और बड़ी त्रुटि है। आपने पृष्ठ ३२ पर लिखा है:—

"अन्तःकरण की उपाधि में आये हुए "सामान्य चेतन (ब्रह्म)" को कहते हैं "अन्तःकरण-उपहित सामान्य चेतन।" "अन्तःकरण-उपहित के अर्थ हैं अन्तःकरण की उपाधि में आया हुआ ब्रह्म"। प्रश्न होता है क्या उपाधि ब्रह्म से भिन्न वस्तु है ?